प्रकाशक—

चौनीराम आर्य

आर्य पुस्तक भवन

आगरा।

मुद्रक—

जैन प्रेस आगरा में

बाबू पद्मसिंह के प्रबन्ध से मुद्रित

* ओ३म् *

भूमिका

अनेक सज्जन चिरकाल से आग्रह करते चले आ रहे थे कि मुझे कोई ऐसी पुस्तक लिख देनी चाहिये, जिसे विशेष कर ऐसे समय में पढ़ कर पढ़ने वाले शान्ति उपलब्ध किया करें, जब परिवार में दुर्भाग्य से मृत्यु होने वा ऐसी ही किसी अन्य आपत्ति के आने से वे दुःखों में फंसे हुआ करें।

दूसरे प्रकार के कुछ सज्जनों ने इच्छा प्रकट की, कि मरने के बाद क्या होता है, इस विषय पर प्रकाश पड़ना चाहिये। कोई कहते हैं कि मरने के बाद रूहें किसी लोक विशेष जाकर आबाद होजाती हैं और वहां से बुलाने पर आ भी जाया करती हैं और अपने सन्देश भी दिया करती हैं कोई कहते हैं कि मरने के बाद हमेशा के लिये मनुष्य अपने कर्मानुसार स्वर्ग या नरक में चला जाया करता है। कोई कहते हैं कि प्राणियों को मरने के बाद अन्तिम निर्णय के लिये चिरकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, उस के बाद निर्णय दिवस आने पर उन का इन्साफ़ होता है, और वे उसी इन्साफ अनुकूल दोज़ख़ और बहिश्त में जाया करते हैं। इसी प्रकार की अन्य बातें भी कही जाती हैं। परन्तु असल बात क्या है, इस का पता नहीं चलता। इसी लिये दूसरे प्रकार के सज्जनों ने भी एक पुस्तक लिख देने के लिये इसरार किया। दोनों प्रकार के आग्रह जारी रहे। परन्तु उन की पूर्ति के लिये बहुत दिनों तक कुछ भी न कर सका, अवश्य इस बीच में, मरने के बाद क्या होता है और परलोक आदि के सम्बन्ध में अनेक पुस्तक देखने का अवसर प्राप्त हुआ। अन्त में मित्रों की बात को और भीबहुत दिनों तक टलना उचित प्रतीत नहीं हुआ। इस के सिवाय अनेक पुस्तकों के देखने से जो तरह तरह की बातें परलोक के सम्बन्ध में उनमें लिखी हुई मिलीं, उन के लिये कुछ न लिखना भी अच्छा नहीं मालूम हुआ। इन्हीं कारणों से एक पुस्तक का लिख देना निश्चय कर के लिखना शुरू कर दिया गया; परन्तु मेरे जैसे व्यक्ति से जिस-

के ज़िम्मे अनेक प्रकार के कार्य्यभार हों, यह आशा नहीं की जा सकती थी कि मैं शीघ्रता से पुस्तक को समाप्त कर दूंगा। हुआ भी यही, पुस्तक के समाप्त करने में ६ वर्ष से अधिक समय लग गया। फिर भी किसी न किसी प्रकार पुस्तक समाप्त हो गई और अब पाठकों के हाथों में जा रही है। पुस्तक के सम्बन्ध में एक बात कह देना आवश्यक है मरने के बाद क्या होता है, इसे ईश्वर या मरने वाले के सिवा तीसरा कोई नहीं जान सकता इसी लिये इस विषय में इतने और ऐसे अनोखे मतों की भरमार है कि जिन सब की समालोचना करना तो दरकिनार, उन का उल्लेख कर देना भी कठिन है। इस प्रकार के अनेक मत ही सही परन्तु इन सब में वही सिद्धान्त अधिक माननीय हो सकता है जो अधिक से अधिक पुरुषों को ग्राह्य हो और बुद्धि पूर्वक जान पड़े। बस इसी बात को दृष्टि में रख कर पुस्तक के पढ़ने से, विश्वास है कि किसी को भी निराश न होना पड़ेगा। पुस्तक में अन्य भी अनेक सिद्धान्तों पर प्रसंग वश विचार किया गया है, जिन के अनुकूल दृष्टि कोण रखने से प्रत्येक व्यक्ति हृदय में शान्ति का संचय कर सकता है।

पुस्तक के तैयार करने में स्वाभाविक था कि अन्य पुस्तकों से सहायता ली जाती, तदनुकूल सहायता ली गई है। जहां जहां सहायता ली गई है, पुस्तक और उन के रचयिताओं के नाम फुट नोटों में दे दिये गये हैं। यहां मैं उन सभी महानुभावों को जिनकी पुस्तकों से साहयता ली गई है—धन्यवाद देता हूँ।

पुस्तक पढ़ने से यदि किन्हीं दुःखित हृदय नर नारियों को शान्ति हुई या किन्हीं जिज्ञासुओं का समाधान हुआ, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

नारायण आश्रम
रामगढ़।
श्रावण १७—८
सं० १९८५ वै०

नारायण स्वामी

* ओ३म् *

विषय सूची

चौथा परिच्छेद

छटा संघ

मरने के बाद की तीसरी गति

पांचवाँ परिच्छेद।

सातवां संघ।

अमैथुनिक सृष्टि का व्याख्यान।

छठा परिच्छेद ।

मुक्ति का आनन्द

सातवाँ परिच्छेद

आठवां संघ

जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति

तीसरा अध्याय ।

पहिला परिच्छेद

नवां संघ

रूहों का बुलाना

सं० विषय पृष्ठ

दूसरा परिच्छेद

रूहों के बुलाने के साधनों का विवरण

तीसरा परिच्छेद

चौथा परिच्छेद

दसवां संघ

रूहों का बुलाना।

पांचवाँ परिच्छेद

रूहों का बुलाना

चौथा अध्याय

पहला परिच्छेद

आठवां संघ

अन्तिम कर्त्तव्य

दूसरा परिच्छेद

अन्तिम कर्त्तव्य

यदि आपको वैदिक सिद्धान्त की

अथवा अन्य किसी भी प्रकार की

पुस्तकें मँगाना हों तो आप

आर्य पुस्तक भवन माईथान आगरा

को लिखिये !

* ओ३म्

"मृत्यु और परलोक"

पहला अध्याय

प्रथम परिच्छेद

प्रारम्भ

गंगातट पर एक सुन्दर तपो-भूमि है। वृक्षों की शीतल छाया है। हरी हरी दूब से सारी भूमि लहरा रही है। शीतल जल के सुहावने चश्मे जारी हैं। प्राणप्रद वायु मन्दगति से वह रहा है। रंग-बिरंग के फूल खिल रहे हैं। फल वाले वृक्ष फलों से लदे हुए हैं। तरह तरह के पक्षी इधर उधर चहचहा रहे हैं। निदान सारा वन प्राकृतिक दृश्यों से भरपूर होकर भक्ति और वैराग्य का शिक्षणालय बना हुआ है। पवित्र और पुण्य भूमि में एक ऋषि जिनका शुभ नाम "आत्मवेत्ता" ऋषि है, वास करते हुये तपोमय जीवन व्यतीत करते हैं। ऋषि आत्मज्ञानी हैं, आत्मरत हैं, वेदों का मर्म जानते हैं, उपनिषदों के रहस्यों को

ज्ञानन्द... ...ते हैं और सदैव आत्मचिन्ता में निमग्न रहते हैं। अपना जीवन अपने ही उपकार में लगाने के अभ्यासी नहीं, किन्तु परोपकार-वृत्ति उनके हृदय में उच्च स्थान रखती है, और इसी वृत्ति को क्रियात्मक रूप देने के लिये सप्ताह में एक ... संग से लाभ उठाने का अवसर सर्व साधारण को दिया ... ...नों गृहस्थ नर-नारी वानप्रस्थी और ब्रह्मचारी ... लाभ उठाने के लिये प्रति सप्ताह उनकी सेवा में ... हुआ करते हैं। सत्संगों का कार्यक्रम यह होता है कि ... जिन्हें कुछ पूछना गछना या दुःख सुख कहना होता है ... कहते हैं। ऋषि उनका उचित समाधान कर दिया ... और जब सत्सङ्ग में एकत्रित पुरुष कुछ पूछते नहीं, किन्तु ... उपदेश ही सुनना चाहते हैं, तब उन्हें कुछ शिक्षाप्रद ... कर दिया करते हैं।

——::o::——

दूसरा परिच्छेद

"एक सत्सङ्ग की कथा"

ज...की तट पर ऋषि आत्मवेत्ता व्यासगद्दी पर विराजमान हैं, और सैकड़ों नरनारी उनके संग से लाभ उठाने के लिये उनके सामने बैठे हैं, आज के संग में दुर्भाग्य से अनेक नरनारी ऐसे ...कत्रित हैं, जो दुःखों से पीड़ित हैं और अपनी दुःख कथा ... कर कर्तव्य की शिक्षा लेने की चिन्ता में हैं, ऋषि की

आज्ञा पाकर उन्होंने अपने सन्तप्त हृदयों का गुबार निकालने के लिये, अपनी दुःख कथा सुनानी आरम्भ कीः—

रामदत्त —महाराज! मेरा हृदय पुत्र-शोक से व्याकुल हो रहा है, चालीस वर्ष की आयु तक हम स्त्री पुरुष सन्तान के मुँह देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सके थे। चालीस वर्ष की आयु होने पर एक पुत्र हुआ, वही एक-मात्र सन्तान थी। बड़े यत्न से उसे पाला पोसा। शिक्षा का प्रबन्ध किया। अब उसकी आयु १८ वर्ष की थी और बनारस विश्वविद्यालय में पढ़ता था, एफ़० ए० की परीक्षा पास कर चुका था, बी० ए० के पहिले वर्ष में आया ही था कि अचानक प्लेग ने आकर घेर लिया। अनेक चिकित्साएं कीं, अनेक उपाय किये, परन्तु कुछ भी कारगर न हुआ, तीसरे दिन ही प्राण पखेरू अस्थिपंजर रूप पिंजरे को छोड़कर उड़ गये—मृत्यु के अन्यायी हाथों ने हम पर ज़रा भी दया नहीं की! इस बुढ़ापे में हमारे बुढ़ापे की लाठी, हमारे सर्वस्व का अपहरण करके हमको तड़फता ही छोड़ दिया, किसी प्रकार शव का दाह कर्म किया, अब उसकी माता उसी दिन से जलहीन मीन की तरह तड़फ रही है, न खाती है, न पीती है, कभी कभी बेसुध भी हो जाती है। इसी हालत में उसे छोड़कर आया हूँ कि आपसे यह आप बीती कथा कहूं, आप अनुग्रह करके बतलायें कि क्या करें, जिससे चित्त की व्याकुलता दूर हो और हम फिर शान्ति का मुँह देख सकें।

[रामदत्त की कथा समाप्त ही हुई थी कि एक दूसरी ओर से

एक स्त्री के रोने की आवाज़ आई। सबका ध्यान उधर होगया दयालु ऋषि ने सान्त्वना देकर उसका हाल पूछा]।

कृष्णादेवी —[किसी प्रकार धैर्य धारण करके उसने अपना हाल सुनाना शुरू किया]। मेरी आयु इस समय केवल ३० वर्ष की है, १२ वर्ष की आयु में विवाह हुआ था, २० वर्ष की नहीं होने पाई थी कि सास और ससुर दोनों का देहान्त हो गया। एक पुत्र हुआ था, ८ वर्ष का होकर वह भी चल बसा। उसके दुःख को हम भूले भी नहीं थे कि तीन दिन हुए जब स्वामी रोग-ग्रस्त हुए, उन्हें ऐसा घातक ज्वर चढ़ा, जिसने पीछा ही नहीं छोड़ा, उन्हें सन्निपात हुआ, बहकी बहकी बातें करते, शय्या छोड़ कर भागते, डाक्टरों ने देखा, हकीमों ने देखा, सभी ने कुछ न कुछ दवाइयाँ दीं, परन्तु फल कुछ न हुआ, कल प्रातःकाल मुझे रोने और वैधव्य जीवन का दुःख भोगने के लिये छोड़ कर चल दिये ! अब मैं सारे घर में अकेली रह गई, क्या करूँ, कहां जाऊँ, चित्त ठीक नहीं, ठिकाना नहीं; रह रह कर यही जी में आता है कि कुछ खाकर सो रहूं, जिससे यह दुःख का जीवन समाप्त हो जावे। [कठिनता से कृष्णा इतना कहने पाई थी कि फिर रोने का तांता बांध दिया, किसी प्रकार उसे लोग तसल्ली दे रहे थे कि एक ओर से फिर रोने का शब्द सुनाई दिया और सब उधर देखने लगे, देखा तो मालूम हुआ कि दो थोड़ी थोड़ी आयु के भाई और बहिन रो रहे हैं। कुछ सज्जनों ने उन बालकों को प्रेम से उठाकर ऋषि

के सामने विठलाया और पूछने पर उन्होंने अपना हाल इस प्रकार सुनायाः—

कृष्णकान्त और सुभद्रा—अभी हम दोनों अपनी अपनी शालाओं में शिक्षा पाते हैं और प्रारम्भिक श्रेणियों में ही हैं। हमारे माता और पिता जो हमारी वड़े प्रेम से पालना करते थे, कल अचानक विसूचिका-ग्रस्त हुये और दोनों का एक ही दिन में सफ़ाया हो गया, पड़ोसियों की सहायता से उनकी अन्त्येष्ठि की, अब हम दोनों अनाथ हैं, कोई रक्षा करने वाला नहीं, कोई नहीं जो दुःख सुख में हमारी सुध ले। वे वालक इतना ही कह चुके थे, कि फिररोने लगे। उन्हें ऋषि ने ढाढस बँधाया और पीठ पर प्रेम से थपकी दी और वचन दिया कि तुम्हारी शिक्षा और रक्षा का प्रबन्ध हो जायगा, घबराओ मत। इसी वीच में एक और व्यक्ति आगे वढ़ा और नम्रता से निवेदन किया कि मुझे भी कुछ कहना है-आज्ञा पाकर उसने कहना आरम्भ कियाः—

जयसिंह—मैं अत्यन्त सुखी गृहस्थ था, मेरे दो पुत्र और एक पुत्री हैं, तीनों सुशील आज्ञाकारी और शिक्षा के प्रेमी हैं। भिन्न भिन्न शिक्षालयों में शिक्षा पाते हैं, मेरी पत्नी वड़ी विदुषी थी और गृहकार्य में वड़ी चतुर थी, मुझे जव वाहर यात्रा में अथवा कहीं और कुछ काम होता, तो मैं सदैव शीघ्र से शीघ्र घर आने का यत्न किया करता था, मेरा विश्वास और दृढ़ विश्वास था कि ज्योंही मैं घर पहुँचूंगा, गृहपत्नी की मधुर वाणी सुनने और सुप्रवन्ध देखने से सारे कष्ट दूर हो जावेंगे और

वास्तव में ऐसा होता भी था, इस प्रकार में समझा करता था कि मुझसे बढ़कर कोई दूसरा सुखी गृहस्थ न होगा, पर दुर्भाग्य से वह देवी मुझसे वियुक्त हो गई। कुछ दिन साधारण ज्वर आया था, इसी बीच में चौथे बालक का जन्म हुआ, परन्तु ज्वर ने उसका पीछा न छोड़ा, अभी बालक तीन महीने का भी पूरा नहीं होने पाया था, कि उसी ज्वर ने इतना विकराल रूप धारण किया कि गृहलक्ष्मी के प्राण लेकर ही पीछा छोड़ा, अब गृहदेवी के वियोग ने मुझे पागलसा बना रखा है, जहां एक ओर गृहस्थ जीवन मिट्टी में मिला दिखाई देता है, तो दूसरी ओर तीन मास के बालक की रक्षा के विचार से मैं घुलासा जा रहा हूं। चित्त को बहुतेरा समझाता हूँ कि सन्तान है, धन है, बड़ा परिवार है, ज़िमींदारी है, इलाक़ा है, सब कुछ है, सावधानी से रहना चाहिये, परन्तु ज्योंही वियुक्तादेवी का स्मरण आता है सारे विचारों पर पानी फिर जाता है और कोई वस्तु भी शान्ति देने में समर्थ नहीं होती, और जब यत्न करता हूं कि उसका स्मरण ही न आवे, तो इसमें सफलता नहीं होती। स्मरण आता है और फिर आता है, रोकने से स्मृति और भी अधिक वेगवती हो जाती है, यह दुःख है, जिससे मैं सन्तप्त हूं और यह सन्ताप उठते, बैठते, सोते, जागते, खाते, पीते सभी समयों में मुझे दुःखी बना देता है, मैं क्या करूं, जिससे इस दुःख से निवृत्ति हो।

"सन्तोषकुमार"—(इसी बीच में बोल उठा)—बड़ी

बड़ी मिन्नतों के मानने से तो इस ६० वर्ष की आयु में पौत्र का मुंह देखता था, परन्तु यह सुख तीन मास भी रहने नहीं पाया था कि पौत्र ने धोखा दिया और सारे परिवार को क्लेशित करके चल दिया, यह दुःख है जो दूर होने में नहीं आता, हृदय में एक आगसी लग रही है, जिससे मैं जल भुन रहा हूं, शान्ति का कोसों पता नहीं।

राधाबाई—(१२ की आयु की एक बाल विधवा रोती हुई)—निर्दयी माता पिता ने तीन वर्ष हुये—जब मैं अबोध बालिका थी, सबोध तो अब भी नहीं हूँ—मेरा विवाह, हत्यारे धन के प्रलोभन में पड़कर, एक ६० वर्ष के बूढ़े से कर दिया था जिसे देख कर सब उसे मेरा दादा ही समझते थे, दो वर्ष तो वह चारपाई पर पड़े पड़े खों खों करते हुए किसी तरह जीता रहा, थोड़ी दूर भी यदि चलना पड़ता तो लाठी टेककर चलने पर भी हांफने लगता, मुँहमें दांत न थे, बात करते समय साफ़ बोल भी नहीं सकता था, यह हालत उसकी पीछे से नहीं हो गई थी, किन्तु विवाह के समय भी उसका यही हाल था। अब सप्ताह हुआ जब वह मर गया, उसके मरने का तो मुझे कुछ भी दुःख नहीं हुआ था, परन्तु जब इधर उधर से नातेदार स्त्री-पुरुष एकत्र हुए और उन्होंने मेरी अच्छी अच्छी चूड़ियां, मेरे मना करने पर भी तोड़ दीं; मेरे अच्छे वस्त्र और जेवर भी उतार लिये और सुन्दर बंधे हुये बालों को भी खोल कर बखेर दिया और कहा कि तूने आतेही अपने पति को खा लिया और

अब तू विधवा है, इसी अवस्था में तुझको सारी आयु व्यतीत करनी पड़ेगी, तब से मेरे दुःख का पारावार नहीं। यही एक आपत्ति नहीं किन्तु और भी अनेक दुःख हैं,कभी कोई दुष्ट स्त्री आकर धन झपटने के लिये तरह तरह की चिकनी चुपड़ी बातें बनाती है। कभी कोई दुष्ट पुरुष आकर मुझे कहता है कि विधवाओं को चारों धाम में जाकर तीर्थ का पुण्य प्राप्त करना चाहिये,यदि तू चले तो मैं तेरे साथ चल सकता हूँ, कभी कोई दुष्ट विधर्मी साधु के रूप में आकर मुझे फुसलाने का यत्न करता और कहता है कि यदि तू हिन्दू मत छोड़ दे तो तेरा निकाह अच्छे आदमी के साथ हो सकता है, कभी कोई विषयी आकर मेरे सतीत्व के नष्ट करने की चेष्टा करता है, इन और इसी प्रकार की अनेक आपत्तियों का मुझे प्रतिदिन सामना करना पड़ता है, इन आपत्तियों में फंस कर मैं अत्यन्त दुःखित और पीड़ित हो रही हूँ। रह रहकर अपनी अवस्था पर रोना आता है। राधा इतना ही कह चुकी थी कि फिर रोने लगी, इसी बीच में एक और आदमी आया और अपनी कहानी सुनाने लगा।

सीतला—(एक दलित जाति का पुरुष)—अबकी बार, महाराज! हमारे गाँवों में चेचक भयंकर रूप से फैली, सैकड़ों बालकों के सिवाय अच्छे अच्छे जवान स्त्री पुरुष भी उसकी भेंट हो गये, किसी किसी तो बूढ़े को भी माता (चेचक) ने आकर मौत का सन्देश सुनाया। मेरे घर में भी चेचक का

प्रकोप हुआ और दो प्राणी उसकी भेंट हुये, एक तो छोटी लड़की थी और दूसरा जवान लड़का था। इन भयंकर मौतों ने घर में कुहराम मचा दिया। किसी को भी अपनी सुध बुध नहीं रही। आस पास के लोगों के कहने सुनने, समझाने बुझाने से मैंने जी कड़ा किया और अपने को संभाल कर उनको श्मशान में लेजाकर अन्त्येष्टि करने की तय्यारी करने लगा। अपने छोटे भाई को बाज़ार भेजा कि जाकर अर्थी और कफन के लिये बांस और कपड़ा आदि ले आवे, उस पर जो कुछ बीती वह आपको सुनाता हूं:—

सावन्ता—(सीतला का छोटा भाई बाज़ार जाते हुए सीतला से बोला) मैं बाज़ार जाता हूँ, तुम ईंधन को श्मशान में भिजवाने का प्रबन्ध करो (यह कहकर सावन्ता चल दिया, अभी रास्ता चलना शुरू ही किया था कि एक आदमी आकर डपट कर बोला)

सुब्राह्मण अय्यर—(एक ऊंची जाति का ब्राह्मण) (ज़ोर से) अरे, तू तो पञ्चम है, तू इस ब्राह्मणों के रास्ते पर कैसे आया ?

सावन्ता—मेरे घर में दो मौतें हो गई हैं, मुझे कफ़न के लिये कपड़ा ले जाने की जल्दी है, इसलिये आप कृपा करके इधर ही से जाने दें।

सुब्राह्मण अय्यर—दो मौतें क्या तेरा सारा परिवार मर

जावे तब भी तू इस रास्ते से नहीं जा सकता, क्या तेरे मुर्दों के कारण हम सब अपना प्रायश्चित करेंगे ?

सावन्ता—आप मेरे मुर्दों के कारण क्यों प्रायश्चित करेंगे।

सुब्राह्मण अय्यर—तेरे इस रास्ते पर चलने से यह मार्ग अपवित्र हो जायगा और इस पर जितने भी उच्च जातिके लोग चलेंगे उन्हें सभी को शास्त्र की रीति से प्रायश्चित करना पड़ेगा, (सावन्ता उसी मार्ग से कुछ आगे बढ़ा ही था कि अय्यर ने खींचकर एक लकड़ी उसके सिर पर मारी, जिससे उसका सिर फट गया और खून बहने लगा। सावन्ता इसी बुरी हालत में कुछेक राहगीरों की सहायता से बिना कपड़ा लिये लौट आया और उसे इस हालत में देखकर आश्चर्य से लोगों ने सब हाल पूछा और उसकी दुःख की कहानी सुन वहां एकत्रित सभी पंचम अपने हिन्दू होने से घृणा करने लगे।

सीतला—(उपर्युक्त आपत्ति की दास्तान सुन कर सीतला ने कहा) महाराज ! एक दुःख तो घर में दो मरे हुओं का था ही, वही हमारे रोने के लिये कम न था, अब यह दूसरी मुसीबत भाई के ज़ख्मी होने से हमारे सिर पर और आगई, उसकी मरहम पट्टी कराने के लिये जब कोई डाक्टर उच्च जाति का होने के कारण नहीं आया तो हमी सबने अपनी ग्रामीण बुद्धि (जानकारी) के अनुसार मरहम पट्टी करदी और उसी सिसकती हुई हालत में छोड़कर श्मशान की ओर चले गये और दाह कर्म करके लौटने भी न पाये थे कि रास्ते में दौड़ती

और हांफती हुई स्त्री ने आकर ख़बर दी कि ज़ख़मी भाई की मृत्यु हो गई, हम अभागे अब उसी अपने प्यारे और एक मात्र भाई का दाह कर्म करके आ रहे हैं, घरमें घुसने को जी नहीं चाहता. घर काटता सा दिखाई देता है, इसीलिये, महाराज! घर न जाकर आपकी शरण में आया हूँ। (आत्मवेत्ता ऋषि ने उनकी दुःखित अवस्था और उच्च जाति के हिन्दुओंके दलितों के साथ दुर्व्यवहार का स्मरण करते और दुःखित होते हुए सीतला को सान्त्वना देते हुए प्रेम से बिठलाया।)

इसके बाद भी सत्संग में एकत्रित पुरुष स्त्रियों में से किसी ने अपनी सम्पत्ति खोये जाने की कथा सुनाई, किसीने अभियोग में हार जाने की चर्चा की. जिसके परिणाम में अपना दरिद्र हो जाना वर्णन किया. किसी ने बन्धु बान्धवों के दुर्व्यवहारकी शिकायत की, निदान इसी प्रकार के कथनोपकथन में संग का सारा समय समाप्त होगया, ऋषि के वचन सुनने का अवसर किसी को न मिला और क्रियात्मक रूप से आज का संग "मर-सिया ख़्वानों की मजलिस" ही बना रहा। आत्मवेत्ता ऋषि ने अगले संग में उपदेश देने का वचन देकर आज के संग का कार्य समाप्त करते हुये, संग में उपस्थित नर नारियों को इस प्रकार का आदेश दिया:—

आत्मवेत्ता—बड़े से बड़े दुःख, बड़ी से बड़ी मुसीबत के कष्ट, करुणानिधान, करुणाकर, करुणामय प्रभु के स्मरण से कम होते हैं और जाते रहते हैं। वही असहायों का सहाय,

निराश्रितों का आश्रय, निरावलम्बों का अवलम्बन है। दुनियां के बड़े बड़े वैद्य, डाक्टर, राजा, महाराजा और साहूकार प्रसन्न होने पर केवल शारीरिक कल्याण का कारण बन सकते हैं, परन्तु मानसिक व्यथा से व्यथित नर-नारी की शान्ति का कारण तो वही प्रभु है, जो इस हृदय मन्दिर में विराजमान है और दुनिया के लोगों की तरह उसका सम्बन्ध मनुष्यों के साथ केवल शारीरिक नहीं किन्तु मानसिक और आत्मिक भी है, वही है, जो गर्भ में जीवों की रक्षा करता है, वही है, जो वहां कीट पतंगों तक की भी रक्षा करता है, जहां मनुष्यों की बुद्धि भी नहीं पहुँच सकती एक पहाड़ का भाग सुरंग से उड़ाया जाता है, पहाड़ के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं, एक टुकड़े के भीतर देखते हैं कि एक तुच्छ कीट है, जिसके पास कुछ दाने अन्न के भी पड़े हैं, बुद्धि चकित हो जाती है, तर्क काम नहीं देता, मन के संकल्प विकल्प थक जाते हैं, यह कैसा चमत्कार है, हम स्वप्न तो नहीं देख रहे हैं? भला, इस कठोर हृदय पत्थर के भीतर यह कीट पहुँचा तो पहुँचा कैसे? और उसको वहां ये दाने मिले तो मिले कैसे? कुछ समझ में नहीं आता, मनुष्य के जब अन्तःकरण थक जाते हैं और काम नहीं करते, वह आश्चर्य के समुद्र में डुबकियां लेने लगता है, अन्त में तर्क और बुद्धि का हथियार डालकर मनुष्य बेसुधसा हो जाता है। अनायास उसका हृदय श्रद्धा और प्रेम से पूरित हो गया, ईश्वर की इस महिमा के सामने सिर झुक पड़ा और हृदय से एक साथ निकल पड़ा कि प्रभु! आप विचित्र हो, आपके कार्य भी विचित्र हैं।

आपकी महिमा समझने में बुद्धि निकम्मी और मन निकम्मा बन रहा है, आप ही अन्तिम ध्येय और आश्रय हो, आपके ही आश्रय होने से दुःख, दुःख नहीं रहते। कष्ट, कष्ट नहीं प्रतीत होते। आपके ही आश्रय में आने से संग के इन नर नारियों के भी कष्ट दूर होंगे—

(आत्मवेत्ता इतना ही कहने पाये थे कि संघ में से एक भक्त का हृदय गद्‌गद् हो गया, आंखों से प्रेम के आंसू बहने लगे, प्रेम में मग्न होकर अत्यन्त मधुर स्वर से हृदय के भीतरी तह में निहित भावों को, गाकर प्रकट करने लगा, और संग में उपस्थित समस्त नरनारी कुछ इस प्रकार से मग्न हो गये कि प्रत्येक को अपना दुःख कम होता दिखाई देने लगा)—

श्लोक

एक भक्त— त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या च द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥
त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं,
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगत् कर्तृ, पातृ प्रहर्तृ,
त्वमेकं परं निश्चलं, निर्विकल्पम् ॥

भजन।

पितुमात सहायक स्वामि सखा, तुमही एक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और अधार नहीं, तिनके तुमही रखवारे हो ॥

प्रतिपाल करो सिगरे जग को,
अतिशय करुणा उर धारे हो।
भूलि हैं हम ही तुमको तुमतो,
हमरी सुधि नाहिं बिसारे हो॥
उपकारन को कछु अन्त नहीं, छिन ही छिन जो विस्तारे हो।
महाराज महा महिमा तुम्हरी, समझे विरले बुध वारे हो॥
शुभ शान्ति निकेतन प्रेमनिधे,
मन मन्दिर के उजियारे हो।
यहि जीवन के तुम जीवन हो,
इन प्राणन के तुम प्यारे हो॥
तुमसो प्रभु पाय 'प्रताप' हरि, केहिके अब और सहारे हो॥

—o—

तीसरा परिच्छेद

दूसरा संघ।

संघ के संगठित हो जाने पर सभी नर नारी ऋषि वचन सुनने के जिज्ञासु हुये, तब आत्मवेत्ता ऋषि ने प्रतिज्ञानुसार उपदेश प्रारम्भ किया—

आत्मवेत्ता ऋषि—जगत् में प्राणियों के वियुक्त होने पर जो दुःख अवशिष्ट परिवार को हुआ करता है, उसका हेतु यह नहीं होता कि वियुक्त प्राणी उन्हें बहुत प्रिय था बल्कि असली कारण यह होता

"जगत स्वार्थमय है"

है कि वियुक्त प्राणियों के साथ अवशिष्ट परिवार के स्वार्थ, जुड़े थे, और वियोग स्वार्थ-सिद्धि में साधक होता है, बस असली दुःख इतना ही होता है कि स्वार्थ-हानि हुई, जिसे पुत्र का शोक है वह केवल इसलिये कि उसने पुत्र को बुढ़ापे की लाठी समझ रक्खा था। पुत्र क्या मरा, मानो बुढ़ापे की लाठी छिन गई। अब चिन्ता केवल इस बात की है कि बुढ़ापे में सहारा कौन देगा। जिसे माता पिता का दुःख है, वह भी अपने ही स्वार्थ के लिये कि अब उसका पालन-पोषण कौन करेगा। जिसे स्त्री का दुःख है, वह भी केवल अपने ही स्वार्थ के लिये कि जो सुख स्त्री से मिला करता था, वह अब नहीं मिलेगा। अतः यह स्पष्ट है कि जिसे मृत्यु का शोक कहते हैं, असल में बन्धु बान्धवों के लिये नहीं, किन्तु अपने ही स्वार्थ में बाधा पहुँचने से किया जाता है।

"याज्ञवल्क्य का उपदेश"

याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी और मैत्रेयी को यही उपदेश कितने सुन्दर शब्दों में दिया †था—

---

† नवा अरे पत्युः कामाय पति प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ॥ १ ॥
नवा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति,
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ॥ २ ॥
नवा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्य—अरे मैत्रेयि ! निश्चय पति की कामना के लिये पत्नी को पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी कामना के लिये पति प्रिय होता है ॥ १ ॥

निश्चय भार्या की कामना के लिये पति को भार्या प्रिया नहीं होती, किन्तु अपनी कामना के लिये ही भार्या प्रिया होती है ॥ २ ॥

निश्चय पुत्रों की कामना के लिये (माता पिता को) पुत्र

नवा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ॥ ४ ॥
नवा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति ॥ ५ ॥
नवा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति ॥ ६ ॥
नवा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति ॥ ७ ॥
नवा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति ॥ ८ ॥
नवा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति ॥ ९ ॥
नवा अरे सर्वस्य सर्वं कामाय प्रियं भवति.
आत्मनस्तु कामाय प्रियं सर्वं भवति ॥ १० ॥

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४ । ५ । ६)

प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामना के लिये ही पुत्र प्रिय होते हैं ॥ ३ ॥

निश्चय धन की कामना के लिये (मनुष्य को) धन प्रिय नही होता, किन्तु अपनी कामना के लिये धन प्रिय होता है ॥ ४ ॥

निश्चय ब्राह्मण की कामना के लिये (मनुष्य को) ब्राह्मण प्रिय नहीं है, किन्तु अपनी कामना के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है ॥ ५ ॥

निश्चय क्षत्री की कामना के लिये (मनुष्य को) क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी कामना के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है ॥ ६ ॥

निश्चय लोकों की कामना के लिये (मनुष्य को) लोक प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामना के लिये ही लोक प्रिय होते हैं ॥ ७ ॥

निश्चय देवों की कामना के लिये (मनुष्य को) देव प्रिय नहीं होते किन्तु अपनी कामना के लिये देव (विद्वान्) प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

निश्चय भूतों (प्राणी-अप्राणी) की कामना के लिये (मनुष्य को) भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामना के लिये ही प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

निश्चय सब की कामना के लिये (मनुष्य को) सब प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामना के लिये ही सब कुछ प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

"मृत्यु का दुःख"

आत्मवेत्ता — इस सम्पूर्ण उपदेशका सार यहीहै कि समस्त प्राणी और अप्राणी केवल अपनी कामना के लिये मनुष्य को प्रिय होते हैं । यदि मनुष्य में किसी प्रकार से यह योग्यता आजाये कि वह अपने सम्बन्धियों, स्त्री, पुत्रादि के साथ जो उसने कामना जोड़ी हुई है, उसे पृथक् कर लेवे, तो क्या उस समय भी मनुष्य को किसी की मृत्यु का दुःख हो सकता है । इसका निश्चित उत्तर यह है कि फिर दुःख कैसा ? दुःख तो सारा स्वार्थ हानि ही का होता है—यदि वियुक्त और अवशिष्ट दोनों के बीच में स्वार्थ का सम्बन्ध न हो तो फिर किसी को मृत्यु क्लेशित नहीं कर सकती । जगत् में प्रति दिन सहस्रों मनुष्य उत्पन्न होते और मरते हैं । परन्तु हमें न उनके पैदा होने का हर्ष होता है और न उनके मरने का शोक । क्यों हर्ष और शोक नहीं होता ? कारण स्पष्ट है कि उनकी उत्पत्ति के साथ हम स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं जोड़ते, इसलिए उनके जन्म का हमें कुछ भी हर्ष नहीं होता और चूं कि उनके जीवनों के साथ हमारा स्वार्थ भी जुड़ा हुआ नहीं होता, इसलिये उनके जीवनों की समाप्ति (मृत्यु) का भी हमें कुछ शोक नहीं होता । न्यूयार्क, लण्डन, पैरिस आदि नगरों में प्रतिदिन सैकड़ों मनुष्य मरा करते हैं, क्यों हम उनका मातम नहीं करते ? केवल इसी के लिये कि उनसे हमारे स्वार्थ का कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता । परन्तु न्यूयार्क आदि नगरों में सैकड़ों मनुष्य होंगे, जो उनके मरने

का शोक करते होंगे। क्यों शोक करते हैं? इसलिये कि उनका स्वार्थ उन मरने वालों के साथ जुड़ा हुआ होता है। निष्कर्ष यह है कि मृत्यु-शोक का कारण स्वार्थ और एक मात्र स्वार्थ है—इसलिये स्वार्थ क्या है, इसपर थोड़ा विचार करना होगा।

——:※:——

चौथा परिच्छेद

"स्वार्थ-मीमांसा"

आत्मवेत्ता—स्वार्थ का तात्पर्य है (स्व + अर्थ) अपनी कामना, अपनी गरज-"स्व" (Self) और आत्मा पर्य्याय वाचक हैं-दोनों का एक ही अर्थ है, इसलिये "अपना अर्थ" या "अपनी आत्मा का अर्थ" इनमें कुछ अन्तर नहीं है, यह दोनों समानार्थक पद हैं।

स्वार्थ तीन प्रकार का है:—

(१) उत्कृष्ट (२) मध्यम (३) निकृष्ट। उत्कृष्ट स्वार्थ वह है, जिसमें आत्मा स्वच्छरूप में रह कर अपने अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है-(२) मध्यम स्वार्थ वह है, जिसमें आत्मा मन और इन्द्रिय से युक्त होकर सम्मिलित अर्थ की सिद्धि करता है-(३) निकृष्ट स्वार्थ वह है, जिसमें आत्मा मन और इन्द्रिय से युक्त होकर ममता के वशीभूत होकर सम्मिलित अर्थ की सिद्धि करता है। निकृष्ट स्वार्थ वह

"स्वार्थ के भेद"

है, जिससे मनुष्य को मृत्यु के दुःख से दुःखी होना पड़ता है। प्रत्येक प्रकार का स्वार्थ ठीक ठीक समझा जा सके, इसलिये कुछ विवरण यहां दिया जाता है:—

आत्मा की दो प्रकार की वृत्ति होती हैं-एक का नाम है अन्तर्मुखी वृत्ति और दूसरे को बहिर्मुखी वृत्ति कहते हैं।

"इन भेदों की व्याख्या"

अन्तर्मुखी वृति का भाव यह है कि आत्मा केवल, आत्मा+परमात्मानुभव में रत हो इसी को निदिध्यासन (Intuition or Realization) कहते हैं। इसी का नाम "श्रेय" या "निवृत्ति मार्ग" है। परन्तु जब आत्मा अपने भीतर नहीं, किन्तु बाहर काम करता है, तब बहिर्मुखी वृत्ति वाला कहलाता है। उसका क्रम यह है कि आत्मा बुद्धि को प्रेरणा करता है, बुद्धि मन को, मन ज्ञानेन्द्रियों को गति देता है। इन्द्रियां विषय में प्रवृत्त हो जाती हैं, इसी को श्रवण और मनन कहते हैं, इसी का नाम 'प्रेय' या "प्रवृति मार्ग है।

मनुष्य के लिये इन दोनों मार्गों की उपयोगिता है। यदि यह दोनों मार्ग ठीक रीति से काम में लाये जावें तो प्रवृत्तिमार्ग निवृत्ति का साधक होता है। उपनिषदों की जहां प्रवृत्ति मार्ग की निन्दा की गई है, उसका भाव केवल यह है कि जो मनुष्य केवल प्रवृत्ति मार्ग को ही अपना उद्देश्य बनाकर निवृत्ति मार्ग की अवहेलना करते हैं, वे ही उपनिषदों की शिक्षानुसार तिरस्कार के योग्य होते हैं।

"प्रवृत्ति और निवृत्ति का मार्ग"

इस बात को उपनिषदों ने असंदिग्ध शब्दों में कहा है, देखो—

नसमपराय: प्रतिभाति बालम्प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यतेमे ॥

(कठोपनिषद् २ । ६)

अर्थात् अज्ञानी पुरुषों को जो प्रमाद-ग्रस्त और धन के मोह से मूढ़ हो रहे हैं, परलोक की बात पसन्द नहीं आती, ऐसे पुरुष जो केवल इसी लोक को मानने वाले (प्रवृत्ति मार्गगामी) हैं और परलोक (निवृत्ति मार्ग) को नहीं मानते, उन्हें बार बार मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है। परलोक का विचार छोड़ जो केवल इसी लोक को अपना सब कुछ समझने लगते हैं, उन्हें सांसारिक मोह जकड़ लेता है, और मोह-ग्रस्त होकर उन्हें अपने उद्देश्य से भी पतित हो जाना पड़ता है। इस विषय में एक बड़ी शिक्षाप्रद आख्यायिका नारद की है:—

"नारद की आख्यायिका"

एक बार नारद ने कृष्ण महाराज की सेवा में उपस्थित होकर उनसे आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहा। महाराज ने उन्हें अधिकारी नहीं समझा और इसीलिये उन्हें आत्मोपदेश नहीं किया। दूसरे अवसर पर आकर नारद ने फिर वही प्रश्न किया। महाराज ने उत्तर न देकर नारद से कहा कि चलो कहीं भ्रमण कर आवें। नारद प्रसन्नता से रज़ामन्द हो गया और इस प्रकार दोनों चल दिये। कुछ दूर पहुँच कर एक ग्राम दिखाई दिया। कृष्ण ने नारद से कहा कि जाओ इस ग्राम से पीने को

पानी ले आओ। नारद चले गये। एक कुएँ पर पहुँचे, जहाँ कुछ स्त्रियां पानी भर रही थीं। उनमें एक अति रूपवती सुशीला कन्या भी थी। नारद ने उससे जल मांगा। उसने बड़ी प्रसन्नता से नारद को जल दिया। परन्तु नारद जल लेकर वहां से चले नहीं और जब वह कन्या जल लेकर अपने घर की ओर चली, तो उसके पीछे हो लिये। कन्या ने घर पहुँच कर अपने पीछे नारद को आता देखकर समझा कि यह ब्रह्मचारी भूखा प्रतीत होता है, उसने आदर से नारद को बिठला कर भोजन कराया, परन्तु नारद भोजन करके भी वहां से नहीं टले। इसी बीच में कन्या का पिता जो कहीं बाहर गया हुआ था, लौट कर घर आया और उसकी नारद से भेंट हुई। जब बातें ढंग की होने लगीं तब नारद ने सुअवसर समझ कर कन्या के पिता से कहा; कि इस कन्या का विवाह मेरे साथ करदो। कन्या के पिता ने योग्य वर समझ कर विवाह कर दिया। उस कन्या के सिवा घर में और कोई बालक या स्त्री नहीं थी, इसलिये कन्या के पिता ने नारद से कहा यहीं रहो। नारद उसी घर में प्रसन्नता से रहने लगे। कुछ काल के बाद पिता का देहान्त हो गया, अब यह युगल उस घर में मालिक के तौर पर रहने लगे। गृहस्थ धर्म्म का पालन करते हुये नारद के होते होते तीन पुत्र हो गये। इसी बीच में वर्षा अधिक होने से बाढ़ आ गई और पानी गांव में भी आ गया और ग्राम निवासी अपने अपने घर छोड़ कर जिधर तिधर

जाने लगे । नारद को भी कहीं चलने की चिन्ता हुई और उन्होंने अपने छोटे दो बच्चों को कन्धों पर बिठला कर एक बड़े पुत्र को एक हाथ से पकड़ा और दूसरे हाथ से स्त्री का हाथ पकड़ कर पार होने के लिए पानी में चल दिये। पानी का ज़ोर था, पुत्र अपने को सम्भाल नहीं सका, उसका हाथ नारद के हाथ से छूट गया और वह पानी में बह गया। नारद अपनी विवशता देखकर किसी प्रकार संतोष करके आगे चल दिये कि पानी ने फिर धकेला और नारद गिरने को हुये परन्तु किसी तरह से उन्होंने अपने को सँभाला परन्तु इस संघर्षण में उनके कन्धों से बाक़ी दो पुत्र भी पानी में गिर कर बह गये।

अब उनके साथ केवल उनकी स्त्री रह गई। नारद को उन पुत्रों के बहने का दुःख तो बहुत हुआ परन्तु किसी प्रकार अपनी स्त्री और अपने जी को समझा कर आगे चल दिये कि स्त्री तो मौजूद ही है, और भी पुत्र हो जावेंगे। जब वे दोनों युगल इस प्रकार जा रहे थे कि अचानक पानी की एक प्रबल झपेट ने स्त्री को भी बहा दिया। नारद बहुत हाथ पांव मार कर किसी प्रकार पानी से निकल कर उसी स्थान पर पहुँचे जहां से कृष्ण महाराज के लिये पानी लेने को ग्राम को चले थे तब उनका माया मोह छूटा और वह वहीं पश्चात्ताप करने लगे कि मैं ग्राम में किस काम के लिये गया था और वहाँ जाकर किस जगड़जाल में फंस गया। परन्तु "अब पछताये का होत है, जब चिड़ियां चुग गईं खेत"।

आख्यायिका कितनी अच्छी शिक्षा देती है कि मनुष्य जब उद्देश्य को भुला कर संसार के माया मोह में फंस जाता है तब उसकी ऐसी ही दुर्दशा होती है, जैसी नारद की हुई। इस लिये उपनिषद् ने शिक्षा यह दी है कि मनुष्य को श्रेय मार्ग को भुला कर केवल प्रवृत्ति मार्ग को अपना उद्देश्य नहीं बना लेना चाहिये। किन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को उनका उचित स्थान देना चाहिये। तभी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

इस पर कोई कह सकते हैं कि उपनिषदों ने जिस प्रकार प्रवृत्ति की निन्दा की है, उसी प्रकार केवल निवृत्ति की निन्दा क्यों नहीं की? इसका समाधान यह है कि मनुष्य प्रवृत्ति में तो उत्पन्न ही होता है, वह उसे अनायास सिद्ध होती है परन्तु निवृत्ति मार्ग यत्नाभाव से प्राप्त ही नहीं हो सकता। कोई मनुष्य सीधा निवृत्ति में नहीं जा सकता, उसे सदैव प्रवृत्ति से ही निवृत्ति में जाना पड़ता है। जब कोई प्रारम्भ से निवृत्ति पथगामी हो ही नहीं सकता, तो फिर केवल निवृत्ति पथ के लिये उपनिषदों को कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या हो सकती थी।

सन्तोष कुमार—फिर क्यों यम ने नचिकेता से कहा कि "विद्याभीप्सितं नचिकेतं मन्ये" अर्थात् मैं नचिकेता को श्रेय (निवृति) पंथगामी मानता हूं।

आत्मवेत्ता—इसका भाव यह है कि यम ने नचिकेता को समझा, कि वह श्रेयमार्ग का निरादर नहीं करता, किन्तु उसे मुख्य समझकर प्रवृत्ति मार्ग से जिसमें नचिकेता था ही, निवृत्ति मार्ग में जाने का इच्छुक है।

आत्मवेत्ता ऋषि--(फिर अपना व्याख्यान प्रारम्भ करके बोले) निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग को ठीक समझाने के लिये अवस्थाओं का ज्ञान होना आवश्यक है, उसका बहुत विवरण यहां दिया जाता है:—

अवस्थायें तीन हैं-(१) जागृत (२) स्वप्न (३) सुषुप्त। इनमें से जब मन और इन्द्रिय दोनों अपने अपने क्रमसे अपना अपना काम करते हैं, तब उसे "जाग्रतावस्था" कहते हैं। परन्तु जब इन्द्रियों का काम बन्द होकर केवल मन का काम जारी रहता है, तब उसे "स्वप्नावस्था" कहते हैं, और जब केवल आत्मा अपने ही भीतर काम करता है और मन का काम भी बन्द हो जाता है, तब उस अवस्था को "सुषुप्त" कहते हैं। निवृत्ति प्रवृत्ति मार्गों और उसके साथ ही जागृत, स्वप्नादि अवस्थाओं पर विचार करने से स्वार्थ के भेदों का कुछ रूप समझ में आता है। जब जागृत में सुषुप्तावस्था की सी अवस्था हो जावे अर्थात् मन और इन्द्रिय बिल्कुल निष्क्रिय हो जावें तब वह स्वार्थ का उत्कृष्ट रूप होता है, परन्तु जब मन और इन्द्रिय दोनों या केवल मन काम करे परन्तु ममता के वश में न हो, तो वह स्वार्थ का निकृष्ट रूप समझने के लिये ममता का ज्ञान होना चाहिये—

"अवस्थायें"

वेद और उपनिषद् की शिक्षा यह है कि मनुष्य संसार की प्रत्येक वस्तु को ईश्वर प्रदत्त समझ कर प्रयोग में लावें* इसका फल यह होता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु के लिये मनुष्य की भावना यह होती है कि वह उसकी नहीं है, किन्तु ईश्वर की है और प्रयोग और केवल प्रयोग के लिये उसे मिली हुई है, और इस अवस्था में

"ममता क्या है"

* तेन त्यक्तेन भुंजीथा ! यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र १

स्वामी का अधिकार है कि अपनी वस्तु जब चाहे ले ले। प्रयोक्ता को उसके देने में "किन्तु परन्तु" करने की गुञ्जाइश नहीं रहती। उदाहरण के लिये कल्पना करो कि रामदत्त की एक पुस्तक है और उसे पढ़ने के लिये सन्तोषकुमार ने ले लिया है। सन्तोषकुमार उस पुस्तक को पढ़ता है। यह पुस्तक उसे रुचिकर मालूम देती है और उसका जी नहीं चाहता कि समाप्त करने से पहले छोड़े। परन्तु पुस्तक के समाप्त होने से पहले पुस्तक के स्वामी रामदत्त को उसकी ज़रूरत पड़ी और रामदत्त ने पुस्तक सन्तोषकुमार से मांगी। अब बतलाओ कि सन्तोष कुमार का क्या कर्तव्य है? उसे वह पुस्तक रामदत्त को दे देनी चाहिये या नहीं?

जयसिंह—अवश्य दे देनी चाहिये।

कृष्णादेवी—उसे दे ही नहीं देनी चाहिये, किन्तु प्रसन्नता के साथ धन्यवाद पूर्वक पुस्तक को लौटाना चाहिये।

आत्मवेत्ता—ठीक है। आप लोगों का उत्तर यथार्थ है परन्तु एक बात तो बतलाओ कि यदि सन्तोषकुमार यह भुला कर कि पुस्तक का स्वामी रामदत्त है, यह कहने और समझने लगे कि यह पुस्तक मेरी है और पुस्तक रामदत्त को न लौटावे तो इसका फल क्या होगा?

कृष्णादेवी—इसका फल यह होगा कि पुस्तक को तो रामदत्त बल पूर्वक छीन कर ले ही लेगा, क्योंकि पुस्तक उसकी है और सन्तोषकुमार को पुस्तक के छिन जाने से व्यर्थ में दुख उठाना पड़ेगा।

आत्मवेत्ता—अच्छा कोई विधि है, जिससे सन्तोषकुमार इस दुःख उठाने से बच जावे।

जयसिंह—एक मात्र उपाय यह है, कि सन्तोषकुमार प्रसन्नता से पुस्तक को पुस्तक के स्वामी को लौटा देवे !

आत्मवेत्ता—ठीक है। सन्तोषकुमार को इस उदाहरण में दुःख क्यों उठाना पड़ा ?

कृष्णादेवी—केवल इसलिये कि उसने पुस्तक के सम्बन्ध में यह भावना पैदा करली थी कि पुस्तक मेरा है——

आत्मवेत्ता—ठीक है इसी भावना का नाम "ममता" है,

"मृत्यु के दुःख का कारण ममता"

पुस्तक के सदृश संसार की प्रत्येक वस्तु जिस में धन सम्पत्ति ज़िमींदारी, राज्य पुत्र, पौत्र, बन्धु, बान्धव सभी शामिल हैं, ईश्वर के हैं और मनुष्य को केवल प्रयोग के लिये मिले हैं, उन्हें ईश्वर जब भी लेना चाहे, प्रयोक्ता प्रसन्नता से लौटा देने चाहिये। यदि प्रयोक्ता उसमें ममता का सम्बन्ध जोड़कर कि यह धन मेरा है, सम्पत्ति मेरी है, राज्य मेरा है, पुत्र मेरा है, पौत्र मेरा है, इत्यादि उन्हें न देना चाहेगा, तो भी पुस्तक के स्वामी के सदृश इन वस्तुओं का स्वामी ईश्वर उन्हें बल प्रयोग करके ले लेगा और उस समय सन्तोषकुमार की भांति प्रयोक्ता को क्लेश भोगना पड़ेगा—क्या यह ठीक है ?

"रामदत्त आदि सभी उपस्थित गण" एक स्वर से बोले कि, हां ठीक है——

आत्मवेत्ता—तो क्या यही क्लेश आप लोग नहीं भोग रहे हैं ?

उपस्थित गण—(नीची गर्दन करके प्रथम चुप हो गये

फिर आत्मवेत्ता के दुबारा पूछने पर बहुत धीमे स्वर से बोले) ठीक है—यही क्लेश हमभी भोग रहे हैं।

आत्मवेत्ता—फिर जब आप समझ गये कि आप अनुचित रीति से ममता के वश होकर क्लेश भोग रहे हैं तो प्रसन्नता के साथ इस क्लेश को दूर कर देना चाहिये, मनुष्य ममता ही के वश में होकर तो इस प्रकार के कार्य्य करता है, जिससे उसे दुःखी होना पड़ता है। इसी ममता के वश में होने का नाम "निकृष्ट स्वार्थ" है। यही "निकृष्ट स्वार्थ" है, जिससे मनुष्य को धन सम्पत्ति के चले जाने या बन्धु बान्धवों की मृत्यु से दुःख उठाना पड़ता है। इसके सिवा एक बात और भी है. यदि कुछेक लोगों के कथनानुसार इस प्रकार दुखित और क्लेशित होने को गई वस्तु की पुनः प्राप्ति का यत्न माना जावे तो भी वह यत्न वृथा है। यह बात पिता पुत्रादि के संबन्ध की वास्तविकता का ज्ञान होने से स्पष्ट होगी।

पांचवां परिच्छेद

[सम्बन्ध का वास्तविक रूप]

पिता, पुत्र, बन्धु-बान्धवों के सम्बन्ध का वास्तविक रूप क्या है—यह बात जानने के लिये सम्बन्ध की सत्ता पर विचार करना चाहिये। क्या पिता पुत्र का सम्बन्ध दोनों की आत्माओं में है? उत्तर यह है, कि नहीं; क्योंकि पिता पुत्र के सम्बन्ध के लिए आयु का भेद अनिवार्य है। परन्तु आत्मायें सब एक सदृश नित्य हैं। धन का न आदि है और न अन्त।

इसलिए यह सम्बन्ध आत्माओं में, आयु का भेद न होने से, नहीं हो सकता फिर क्या सम्बन्ध शरीर और शरीरों में है? नहीं, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि मरने के बाद भी शरीर बाक़ी रहता है, परन्तु कोई उसे पिता या पुत्र समझकर घरमें नहीं रखता। किन्तु शरीर से आत्मा के निकलते ही जब कि उसकी संज्ञा शरीर से 'शव' हो जाती है, यथासम्भव शीघ्र दाह करने की प्रत्येक चेष्टा किया करता है। यदि शरीर ही पिता या पुत्र हो, तो उसके दाह करने से पिता या पुत्र के घात का पाप दाह करने वालों को होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता, किन्तु शव का दाह कर्तव्य (१) और पुण्य (२) बतलाया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि पित्रादि का सम्बन्ध न तो केवल आत्मा में है और न केवल शरीर में। फिर यह सम्बन्ध किसमें है? इसका उत्तर यह है कि यह सम्बन्ध शरीर और आत्मा के संयोग होने पर स्थापित होता और वियोग होने पर टूट जाता है। आत्मा और शरीर के संयोग का नाम ही पिता पुत्रादि हुआ करता है। एक गृहस्थ के घर में पुत्र का जन्म होता है। इस जन्म होने का अर्थ क्या है? शरीर और आत्मा का संयोग, इसी संयुक्त द्रव्य का नाम ही पुत्र होता है। इस प्रकार जब शरीर और आत्मा के संयोग का नाम ही पिता

---

(१) भस्मान्तꣳशरीरम्। (यजु० ४०।१५) अर्थात् शरीर के लिये अन्तिम कृत्य भस्म करना है—इसीलिये इस संस्कार का नाम अन्त्येष्टि अर्थात् अन्तिम यज्ञ रक्खा गया है—इसी को नरमेध भी कहते हैं।

(२) एतद्वै परमं तपो यत् प्रेतमरण्यं हरन्ति। एतद्वै परमं तपोयत् प्रेतमग्नावभ्यादधति। (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ५ ब्रा० ११ क० १) अर्थात् शव का श्मशान में ले जाना और उसका दाह करना साधारण तप नहीं, किन्तु परम तप है—

पुत्रादि हुआ करता है, तो इस सम्बन्ध के टूटजाने पर इस सम्बन्ध की समाप्ति हो जाती है यह परिणाम निकालना अनिवार्य्य है। इस प्रकार जब मृत्यु (शरीर और आत्मा का वियोग) होने पर सम्बन्ध टूट जाता है और पिता पुत्रादि की कोई सत्ता बाकी नहीं रहती, तो फिर दुःखित और क्लेशित होना रूप यत्न किसको पुनः प्राप्ति के लिये किया जा सकता है ?

एक फ़ारसी के कवि "उर्फ़ी" ने बहुत अच्छी तरह से इसी सिद्धान्त के प्रदर्शित करने का यत्न किया है। उसने लिखा है, यदि रोने से प्रियतम मिल जाता, तो सौ वर्ष तक इसी आशा में रोया जा सकता है (१) निष्कर्ष यह है कि मरने पर मरने वाले के लिये रोना पीटना, दुःखित और क्लेशित होना व्यर्थ और सर्वथा अनावश्यक है, बल्कि इसके विपरीत अवशिष्ट परिवार को यह सोचते हुये कि एक वस्तु ईश्वर की थी उसने उसे जब चाहा ले लिया और उसके इस प्रकार उस वस्तु को ले लेने से हम पर जो उससे सम्बन्धित उत्तरदायित्व रूप बोझ था कम हो गया और परिणाम में हमें आंशिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इस स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए हर्ष करना चाहिये न कि मातम।

आत्मवेत्ता—ऋषि ने यहां पर अपना उपदेश समाप्त किया। उपदेश की समाप्ति पर श्रोताओं के मुखड़ों से एक प्रकार की गम्भीरता प्रकट हो रही थी. जितने वे दुःखित थे उसका बहुत अंश दूर हो चुका था और बाक़ी रहे दुःख की भी निस्सारता समझते हुये उसके दूर करने के लिये वे यत्नवान्

[१] फ़ारसी का शेर इस प्रकार है—

उर्फ़ी अगर बगिर्यं मयस्सर शुदे विसाल।
सद साल मे तवां ब तमन्ना गरीस्तन॥

प्रतीत होते थे, और जो कुछ उन्होंने उपदेश सुना था; उस पर विचार करते हुये और भी कुछ उपदेश शंकाओं के समाधान रूप में, सुनना चाहते थे इसी उद्देश्य से श्रोताओं में से एक बोल उठाः—

प्रेमतीर्थ--(इस उपदेश के लिए कृतज्ञता प्रकाशित करते हुये एक प्रश्न करता है) आपने जो वेद की शिक्षा यह बतलाई है कि मृत्यु का दुःख केवल ममता का परिणाम है, तो क्या इसका तात्पर्य यह है कि मृत्यु दुःखप्रद ही नहीं है और मरने से मरने वाले को कुछ क्लेश ही नहीं होता।

आत्मवेत्ता--हां यह ठीक है कि स्वयमेव मृत्यु क्लेशप्रद नहीं है। और आगामी संघ में इस शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ कहा जायगा।

छठा परिच्छेद

'तीसरा संघ"

(मृत्यु का वास्तविक रूप)

सुन्दर और सुहावनी तपोभूमि में जहां सुख और शान्ति का वायु प्रवाहित हो रहा है आत्मवेत्ता ऋषि व्यासासन पर विराजमान हैं। अनेक नरनारी एकत्रित हैं और प्रत्येक के हृदय में एक विलक्षण प्रकार की उत्सुकता है कि आज वे प्रश्नों के प्रश्न, जगत् के महत्तम प्रश्न, मृत्यु के प्रश्न के सम्बन्ध में एक ऐसे महापुरुष से कुछ सुनने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले हैं, जो प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ कहने के अधिकारी हैं और इसलिये

प्रत्येक नरनारी टिकटिकी बांधे हुये ऋषि की ओर देख रहे हैं कि कब मुखारविन्द से उपदेश आरम्भ होता है:--

आत्मवेत्ता--ऋषि ने अपने मौनव्रत को तोड़ा और संघ में नर नारियों की उपदेशामृत सुनने की उत्सुकता का अनुभव करके इस प्रकार कहना शुरू किया:——

आत्मवेत्ता—मृत्यु क्या है, इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की बातें अनेक सम्प्रदायों में प्रचलित हैं परन्तु जीवन और मृत्यु का वास्तविक रूप यह है कि अनेक नाड़ी और नसों से बने हुये शरीर और अमर आत्मा के संयोग का नाम "जीवन" है और उन्हीं के वियोग का नाम "मृत्यु" है। अपने अपने स्वरूप से जीवन और मृत्यु कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं, जिनमें उत्तरदायित्व पूर्ण कर्तृत्व का आरोप किया जा सके। वे एक प्रकार की क्रियायें हैं और इसलिये उनके परिणाम पर ध्यान देकर उन्हें दुःख या सुखप्रद कहा जाता है। उसी मृत्यु के सम्बन्ध में अब कुछ कहा जाता है:—

"मृत्यु सुखप्रद है"

सबसे पहिली बात जो मृत्यु के सम्बन्ध में समझ लेने की है, वह यह है, कि परिणाम की दृष्टि से मृत्यु दुःखप्रद नहीं किन्तु सुखप्रद है। मृत्यु किस प्रकार सुखप्रद है? यह सिद्धान्त कुछ व्याख्या चाहता है और वह व्याख्या इस प्रकार है:—जीवन और मृत्यु को दिन और रात के सदृश कहा जाता है। यह सभी जानते हैं कि दिन काम और रात्रि आराम करने के लिये है। मनुष्य दिन में काम करता है। काम करने से उसके अन्तःकरण (मन बुद्धि आदि) और वाह्यकरण आंख, नाक, हाथ, पांव आदि सभी थक कर काम करने के अयोग्य हो जाते हैं और तब वह कुछ नहीं कर सकता। इसी प्रकार शक्ति का ह्रास होने पर रात्रि आती है।

दिन में जहां मनुष्य के शरीर के भीतर और बाहर की सभी इन्द्रियां अपना काम तत्परता से करती थीं। अब रात्रि आने पर मनुष्य गाढ़ निद्रा में सो जाता है और अन्तःकरण क्या, और बाह्यकरण क्या सभी शान्त और पुरुषार्थ रहित हो जाते हैं। काम करने से जहां शक्ति खर्च होकर कम होती है, काम न करने से खर्च बन्द हो जाने के कारण शक्ति पुनः एकत्र होने लगती है। इस प्रकार खर्च हुई शक्ति को पुनः मनुष्य पुरुषार्थ-मय होकर उस एकत्रित शक्ति को व्यय कर डालता है। फिर रात्रि आती है और पुनः शक्ति का भण्डार भर देती है। यह क्रम अनादि काल से चला आता है और अनन्त काल तक चला जाता है:—

गायत्री—(संघ में उपस्थित एक देवी) रात्रि में काम न करने से शक्ति किस प्रकार एकत्र हो जाती है?

आत्मवेत्ता—शक्ति रक्त में रहती है और नया रक्त प्रति समय आहार के रूपान्तरित होने से बनता रहता है और रात्रि में शक्ति का व्यय बन्द होनेसे उस शक्ति की मात्रा बढ़ती रहती है। यह नियम प्राणि और अप्राणि सभी में काम करता है। जब किसी भूमि की पैदावार कम हो जाती है, तो कृषक उसे कुछ काल के लिए छोड़ देता है और उसमें कुछ नहीं बोता। इस प्रकार कुछ अरसे तक भूमि के खाली पड़े रहने से उसमें फिर उत्पादिका शक्ति एकत्र हो जाती है और भूमि फिर अन्न पैदा करने योग्य हो जाती है। तब कृषक फिर उसमें बोना शुरू कर देता है।

(यह उत्तर देने के बाद आत्मवेत्ता-ऋषि फिर अपना व्याख्यान जारी करते हैं)।

आत्मवेत्ता—जिस प्रकार दिन और रात काम और आराम करने के लिये हैं, उसी प्रकार जीवन और मृत्युरूपी दिन रात भी काम और आराम करने के लिए ही हैं। मनुष्य जीवन रूपी दिन में काम करता है। यह बाल्यावस्था से आरम्भ होकर यौवनावस्था में उच्च शिखर पर पहुँच जाता है। वृद्धावस्था जीवनरूपी दिन का अन्तिम पहर होता है। इसलिये जिस प्रकार सायंकाल होने से पहिले मनुष्य काम करते करते थक जाता है, अधिक काम करनेयोग्य नहीं रहता, इसी प्रकार वृद्धावस्था (जीवन रूपी दिन के सायंकाल) के आने पर भी मनुष्य काम करने के अयोग्य हो जाता है। मस्तिष्क काम नहीं देता, स्मृति खराव हो जाती है। हाथ पांव हिलाना दूभर हो जाता है। अधिक कहने की ज़रूरत नहीं, सभी जानते हैं बुढ़ापे की अन्तिम अवस्था में मनुष्य काम करने अयोग्य और निकम्मा हो जाता है, चारपाई पर पड़े पड़े खों खों करने के सिवाय और किसी काम का नहीं रहता। वह सारा सामर्थ्य जो बाल्य और युवावस्था में था, बुढ़ापे में स्वप्न की सी बात हो जाती है। इस प्रकार जब जीवनरूपी दिन में मनुष्य काम करते करते थक जाता है और अधिक काम करने के अयोग्य हो जाता है तब मृत्युरूपी रात्रि आराम देकर निकम्मापन दूर करने के लिए आती है। जिस प्रकार रात्रिमें आराम पाकर प्रातःकाल होने पर मनुष्य नये उत्साह, नये सामर्थ्य, नई स्फूर्त्ति के साथ उठता है, इसी प्रकार मृत्युरूपी रात्रि में आ-

राम पाकर मनुष्य जीवनरूपी दिन प्रातःकाल रूपी बाल्यावस्था में नये उत्साह, नई शक्ति, नये, सामर्थ्य और नई स्फूर्ति के साथ उत्पन्न होता है। जहां बुढ़ापे में हाथ पांव हिलाना मुश्किल था, बाल्यावस्था इसके सर्वथा विपरीत है। यहां बाल्य काल में सामर्थ्य की इतनी बहुलता है कि बालक को हाथ पांव ठहराना कठिन होता है। यदि उसके हिलते हुए हाथों को पकड़ लो तो वह पांव हिलाने लगेगा। यदि पांव भी पकड़ लो तो रोने लगेगा। गर्जेकि जब तक वह अपने हाथ पांव हिलाने में बाधक साधनों को दूर न कर लेगा, चैन न लेगा। इतना परिवर्तन क्यों हो गया? इसका एक मात्र उत्तर यह है, कि मृत्युरूपी रात्रि ने आराम देकर बुढ़ापे की अकर्मण्यता को बाल्यावस्था की इस अपूर्व कर्मण्यता में बदल दिया। इस प्रकार हमने देख लिया कि मृत्यु दुःख देने के लिए नहीं; किन्तु आराम और सुख देने के लिए ही आती है। इसीलिए कृष्ण महाराज ने गीता में अर्जुन के प्रति कहा है—

"शरीर वस्त्र के सदृश है"।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यीनि संयाति नवानिदेही ॥

[गीता २।२२]

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य फटे पुराने वस्त्र छोड़ कर नये वस्त्रों को ग्रहण कर लिया करता है, इसी प्रकार आत्मा जीर्ण और निकम्मे शरीर को छोड़ कर नया शरीर ग्रहण कर लिया करता है। भला कभी किसी को देखा या सुना है कि पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नये, वस्त्रों के ग्रहण करने में उसे दुःख या

क्लेश हुआ हो. बल्कि इसके विपरीत यह तो देखा जाता है कि नये वस्त्रों को ग्रहण करने से सभी प्रसन्न होते हैं। फिर आत्मा निकम्मे और जर्जर शरीर को छोड़ कर नये और पुष्ट शरीर के ग्रहण करने से अप्रसन्न और दुःखी किस प्रकार हो सकता है। इसलिये यह सिद्धान्त कि मृत्यु दुःखप्रद नहीं, अपितु सुखप्रद है, श्रेयस्कर और ग्राह्य है।

"मृत्यु दुःखप्रद क्यों प्रतीत होता है"

वीरभद्र—(संघ का एक सदस्य आत्मवेत्ता का उपदेश सुनकर बोला) आपका उपदेश तो अवश्य श्रेयस्कर और ग्राह्य है, परन्तु जिस समय सिद्धान्त की सीमा उल्लंघन करके क्रियात्मक जगत् पर दृष्टि डालते हैं तो बात इसके सर्वथा विपरीत मालूम होती है। एक कुष्ट रोग से पीड़ित प्राणी जेलखाने में कैद है। रोग की पीड़ा भयानक रूप धारण किये है। रोगी के शरीर से रक्त और रस बह बह कर प्रवाहित हो रहा है। बन्दी होने के कष्ट भी साथ ही साथ भोगने पड़ते हैं, किसी प्रकार का उसको सुख नहीं है, किन्तु जीवन क्लेशमय और दुःखमय बन रहा है स्पष्ट है कि यदि वह मर जावे तो इन सारे दुःखों से छूट जावे;इसीलिए यदि उसे पूछते हैं कि इन समस्त दुःखोंसे बचने के लिए क्या तुम मरना चाहते हो ? तो मरने का नाम सुन कर वह भी कानों पर हाथ रखता है। यह अवस्था तो एक साधारण व्यक्ति की हुई कि मृत्यु का नाम सुनकर काँपने लगता है। अब एक विद्वान वैज्ञानिक का हाल सुनिये।

फ्रान्स देश का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक "लाप्लास" था, जिसने जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित पाश्चात्य सिद्धान्त "आकाश को एक अंगार करना" "नैबुलर थियोरी" [Nebular theory] का विवरण देते हुए एक पुस्तक में लिखा था, जिसमें सूर्य चन्द्रादि अनेक नक्षत्रों की उत्पत्ति का विवरण अंकित था। पुस्तक के तैयार हो जाने पर उसकी एक कापी उसने महान नैपोलियन को भेंट की। नैपोलियन ने पुस्तक को पढ़ा और लाप्लास से फिर भेंट होने पर एक प्रश्न किया। प्रश्न यह था कि पुस्तक में जगत् के रचयिता ईश्वर का क्यों कहीं ज़िक्र नहीं किया। लाप्लास नास्तिक था। उसने नास्तिकता-पूर्ण उत्तर दिया। उत्तर यह था कि मुझे इस जगदुत्पत्ति का विचार करते हुए ईश्वर की कल्पना करने की कहीं आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। नैपोलियन उसका उत्तर सुनकर चुप हो गया। परन्तु जब लाप्लास के मृत्यु का समय उपस्थित हुआ और उसको निश्चय हो गया कि अब कुछ क्षण ही में मृत्यु आकर उसकी रूह पर कब्ज़ा करना चाहता है, तो वह इतना भयभीत हो गया कि भय की अधिकता के कारण उसे कुछ भी सुध बुध नहीं रही और अनायास उसके मुख से ये शब्द निकल पड़े "Love is greater than thousands of mathematics" अर्थात् ईश्वर का प्रेम मेरे हज़ारों गणितों से श्रेष्ठ हैं' यह ईश्वर का प्रेम उस समय उसे याद आया, जब उसने समझ लिया कि अब मृत्यु गला घोंटना चाहती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि साधारण स्थिति के आदमी एक ओर मृत्यु से भयभीत होते हैं, तो दूसरी ओर लाप्लास जैसे विद्वानों को भी मृत्यु कम डरावनी नहीं है। क्रियात्मक रूप में जब मृत्यु इतना भयप्रद है, तो फिर किस प्रकार उसे सुखप्रद कहा जा सकता है।

आत्मवेत्ता—यह सच है कि क्रियात्मक संसार में मृत्यु दुःखप्रद-सा प्रतीत होता है, पर विचारने के योग्य तो यही बात है कि मृत्यु के समय में होने वाले दुःख का कारण स्वयमेव मृत्यु है या और कोई कारण है, जिसे मरने वाले ने स्वयमेव उपस्थित कर लिया है।

वीरभद्र—और क्या कारण हो सकता है!

आत्मवेत्ता—कारण का संकेत कुछ तो ऊपर किया ही गया है, कुछ उसे और स्पष्ट अब किया जाता है। यह कहा जा चुका है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु ईश्वर की है और मनुष्य को प्रयोगके लिये मिली है। मनुष्य को जगत् की समस्त वस्तुओं में केवल प्रयोगाधिकार है। ममता के वशीभूत होकर जब मनुष्य उन्हें अपना समझने लगता है तभी उसे कष्ट भोगना पड़ता है।

"ममता से दुःख होता है, मृत्यु से नहीं"

वीरभद्र—अपना समझने से कष्ट क्यों होना चाहिये!

आत्मवेत्ता—संसार में मृत्यु का क्रियात्मक रूप यह है कि वह मनुष्यों से प्राप्त वस्तुओं को छुड़ा दिया करता है। कल्पना करो कि जयचन्द्र एक गृहस्थ है, उसके पास अनेक ग्राम उसकी जमीदारी में हैं, बहुत सा धन भी है, पुत्र पौत्र भी

निदान सब प्रकार से धन धान्य और कुटुम्ब परिवार से परिपूर्ण हैं। पर्य्याप्त आयु भोगने के बाद अब जयचन्द्र मृत्यु-शय्या पर पड़ा है और शीघ्र ही संसार से कूच करने वाला है। अच्छा! बतलाओ कि जयचन्द्र यहां से जब जायगा, तो वह अपने साथ क्या ले जायेगा?

"मनुष्य के साथ केवल धर्माधर्म जाता है"

सत्यशील—जयचन्द्र यहां से अपने किये हुये कर्मों के सिवा, जिन्हीं का नाम धर्माधर्म है, और कुछ न ले जायगा।

आत्मवेत्ता—क्या जिमींदारी, धन, सम्पत्ति, पुत्र, और पौत्रों में से किसी को भी अपने साथ न ले जायगा।

सत्यशील—नहीं।

आत्मवेत्ता—क्यों साथ न ले जायगा? अपनी इच्छा से साथ न ले जायगा या किसी मजबूरी से! यदि किसी मजबूरी से, तो वह मजबूरी क्या ह।

सत्यशील—अपनी इच्छा से तो कौन अपनी वस्तुओं को छोड़ा करता है। अवश्य कोई मजबूरी ही होनी चाहिये और वह मजबूरी मृत्यु के सिवा और कुछ प्रतीत भी नहीं होती है।

आत्मवेत्ता—ठीक है। वह मजबूरी मृत्यु के ही रूप में है मृत्यु का काम ही यह है कि वह मृत पुरुष से जीवन में प्राप्त

"सांसारिक वस्तुओं में केवल प्रयोग अधिकार है"

वस्तुओं धन सम्पत्ति आदि को छुड़ा दिया करती है। यदि जयचन्द्र इन वस्तुओं में अपना केवल प्रयोगाधिकार ही समझता है, तो वह उस स्कूल मास्टर की तरह है कि जो स्कूल का अंतिम

घंटा बजते ही स्कूल की इस्तैमाली किताबों और ब्लैकबोर्ड आदि को, जो उसे स्कूल के घंटों में स्कूल का काम चलाने के लिये मिले थे. स्कूल ही में छोड़ कर प्रसन्नता के साथ स्कूल से चल देता है। समस्त प्राप्त वस्तुओं सम्पत्ति आदि को स्वयमेव यहीं छोड़कर यह समझता हुआ कि जीवन रूपी स्कूल के समाप्त होने पर इनके प्रयोग की अवधि भी समाप्त हो गई है, यह प्रसन्नता के साथ संसार से चल देगा। इस दशा में उसे कुछ भी दुःख मृत्यु से न होगा।

श्रीहर्ष—जयचन्द्र की इस अवस्था में कुछ तो दुःखी होना ही पड़ेगा। क्योंकि उसे अपनी वस्तुयें तो छोड़नी ही पड़ेंगी।

आत्मवेत्ता—कदापि नहीं। क्या उस स्कूल मास्टर को स्कूल की वस्तुयें, स्कूल में छोड़ कर छुट्टी होने पर घर चलते समय भी कुछ दुःख हुआ था।

श्रीहर्ष—स्कूल मास्टर तो प्रसन्नता से छुट्टी होने पर घर जाया करते हैं। उन्हें तो कुछ भी दुःख नहीं होता।

आत्मवेत्ता—तब जयचन्द्र को क्यों दुःख होना चाहिये वह भी तो सारी सम्पत्ति को अपनी नहीं किन्तु ईश्वर की समझ कर प्रयोग-अवधि (आयु) समाप्त होने पर जा रहा है हां जयचन्द्र को उस हालत में दुःख हो सकता है; यदि वह इन समस्त वस्तुओं में ममता जोड़ कर यह समझने लगे कि ये वस्तुयें मेरी हैं।

हर्षवर्धन—ममता जोड़ने से क्यों दुःख होगा।

आत्मवेत्ता—इसलिये कि वह तो इन वस्तुओं को अपनी समझ कर छोड़ना न चाहेगा, क्योंकि कौन अपनी वस्तुओं

को छोड़ा करता है, परन्तु मृत्यु उससे इन वस्तुओं को बल पूर्वक छुड़ावेगी। बस, बल पूर्वक इच्छा के विरुद्ध वस्तुओं के छुड़ाने ही से तो कष्ट हुआ करता है। इससे साफ जाहिर है कि मृत्यु स्वयमेव दुःखप्रद नहीं किन्तु मनुष्य जगत् की वस्तुओं में ममता जोड़कर मृत्यु के समय मृत्यु को दुःखप्रद बना लिया करता है।

एक उदाहरण

Luoicious (Laughing) glass अर्थात् एक प्रकार के हँसाने वाले आइने में मनुष्य की अच्छी से अच्छी सूरत इतनी भोंड़ी और ख़राब दिखलाई देती है कि देखने वाला स्वयमेव अपनी सूरत देखकर हंसने लगता है। क्या इसमें सूरत का दोष है? सूरत का तो कुछ दोष नहीं; सूरत तो अच्छी भली है—फिर ख़राब क्यों दिखाई देती है? इसका कारण आइने की ख़राबी है—क्योंकि मामूली शीशे में वह सूरत अच्छी और जैसी है, वैसी ही दिखाई देने लगती है—इसी प्रकार मृत्यु तो अच्छी है, स्वागत करने के योग्य है, परन्तु जब उसके अच्छे स्वरूप की ममता का शीशा लगाकर देखते हैं, तो शीशे के दोष से (मृत्यु) का सुन्दर और सुहावना रूप भी भयानक और डरावना दिखाई देने लगता है।

एक दूसरा उदाहरण

कल्पना करो कि इस संघ में उपस्थित सज्जनों में रामदत्त एक व्यक्ति ने कुछ अनियमता की, और संघ के प्रबन्ध कर्त्ताओं ने रामदत्त को चले जाने की आज्ञा दी। रामदत्त संघ छोड़कर जाता है—बतलाओ उसको कुछ कष्ट होगा या नहीं?

शीलभद्र—अवश्य कष्ट होगा।

आत्मवेत्ता—परन्तु यदि रामदत्त किसी कार्यवश स्वयमेव इस संघ से उठकर चला जावे, तो क्या तब भी उसे दुःख होगा ?

शीलभद्र—तब उसे कुछ भी दुःख न होगा। क्योंकि वह तो अपनी प्रसन्नता से स्वयमेव उठ कर गया है।

आत्मवेत्ता—तो विचार यह करना है कि दोनों सूरतों में रामदत्त को संघ छोड़ना पड़ता है, परन्तु जब वह स्वयमेव छोड़ता है, तब वह दुःखी नहीं होता। और जब दूसरा कोई उसे मजबूर करके संग छुड़ाता है, तब उसे दुःखी होना पड़ता है। इन दोनों अवस्थाओं में जो दो प्रकार की एक दूसरे से विभिन्न हालतें होती हैं। इसका कारण यह है कि जब मनुष्य अपनी इच्छा से कोई काम करता है, तब उसे दुःख नहीं होता, परन्तु वही काम जब अनिच्छा से करता है, तब उसे दुःखी होना पड़ता है। इसी उदाहरण के अनुसार जब मनुष्य संसार की सांसारिक वस्तुओं में ममता का नाता न जोड़कर स्वयमेव छोड़ता है, तब उसे मृत्यु के समय दुःखी नहीं होना पड़ता। परन्तु जब ममता के वश होकर प्राणी संसार को स्वयं नहीं छोड़ता और मृत्यु बलपूर्वक उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे संसार छुड़ा देती है तब उसे क्लेशित होना पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य की मृत्यु के समय उसके दुःख का कारण संसार के न छोड़ने की इच्छा है, न कि स्वयमेव मृत्यु। इस संसार के न छोड़ने की इच्छा मनुष्य को क्यों उत्पन्न होती है? इसका कारण वही ममता है, जिसके फेर में पड़कर मनुष्य यह समझने लगता है कि संसार में मेरी ज़िम्मेदारी है, मेरा

धन है, मेरी सम्पत्ति है, मेरे पुत्र पौत्र हैं, मकान है अर्थात् जो है सब यहीं तो है। इसलिये संसार नहीं छोड़ना चाहिये।

आत्मवेत्ता ऋषि ने इस प्रकार अपना उपदेश समाप्त किया। संघ के सदस्य उपदेशामृत पान करके अपने को कृत-कृत्य समझते थे। परन्तु विषय के गहन होने से शंकाओं को उठाना समाप्त नहीं हुआ था, इसीलिये उनमें से एक पुरुष इस प्रकार बोल उठा—

शीलभद्र—यह बात तो स्पष्ट हो गई कि मृत्यु स्वयमेव दुःखप्रद नहीं। इस ज्ञान-वृद्धि के लिये हम सभी उपस्थित नर-नारी कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं। इस उपदेश से यह भी प्रकट हो गया कि यदि मरने वाला अपने को ममता के चक्र से मुक्त रख सके, तो बिना किसी प्रकार का दुख उठाये प्रसन्नता से इस जगत से कूच कर सकता है और यह भी पहले उपदेश मिल ही चुका है कि पिता पुत्रादि के सम्बन्ध शरीर और आत्मा के संयोग ही के नाम हैं। इनके वियोग होने पर फिर सम्बन्ध की कोई सत्ता अवशिष्ट नहीं रहती और इस प्रकार जब सम्बन्ध ही नहीं रहा, तो फिर परलोकगत सम्बन्धी के लिये रोना पीटना अथवा और कोई इसी प्रकार की क्रिया करना सर्वथा निरर्थक है। परन्तु मरने वाला मर कर कहां जाता है? परलोक किसका नाम है? इस बात के जानने के लिये हम बड़े उत्कण्ठित हैं। कृपा करके आगामी संघ में इस विषय का उपदेश करें—

आत्मवेत्ता—बहुत अच्छा (इसके बाद आज का संघ समाप्त हो गया)।

———

दूसरा अध्याय

पहिला परिच्छेद

चौथा संघ

मरने के बाद क्या होता है ?

सुन्दर और सुहावने वृक्षों की शीतल छाया में संघ संघटित है। अनेक नर नारी परलोक का हाल जानने के लिये बड़े उत्सुक दिखाई देते हैं। आत्मवेत्ता अपने नियत स्थान व्यासासन पर सुशोभित हैं, संघ के कार्य्य का आरम्भ होने में अभी ५ मिनट की देर है। इसलिये संघ को संघटित देखकर भी आत्मवेत्ता अपना उपदेश आरम्भ नहीं करते हैं।

श्वेतकेतु—महाराज! संघ में आने वाले नरनारी आ तो गये ही हैं, ५ मिनट की क्या बात है, ५ मिनट पहले ही उपदेश आरम्भ कर देवें!

आत्मवेत्ता—नहीं! यह नहीं हो सकता। जो सज्जन समय के पाबन्द हैं, ठीक समय पर आवेंगे समय से पूर्व कार्य्य शुरू करने का फल यह होगा कि वे उन शिक्षाओं से लाभ न उठा सकेंगे, जो समय से पूर्व दी जा चुकेंगी। फल यह होगा कि उन्हें समय की पाबन्दी करने का, इनाम की जगह दण्ड भोगना पड़ेगा। जो मनुष्य समय की पाबन्दी करते हैं, उनके लिये ५ मिनट बड़ा मूल्य रखते हैं, नैपोलियन'

ने आस्ट्रिया के विजय कर लेने पर कहा था, कि उसने आस्ट्रिया को इस लिये विजय कर लिया कि आस्ट्रिया वाले ५ मिनट का मूल्य नहीं जानते थे। इसलिये संघ का कार्य न तो समय से पूर्व शुरू होगा न समय के बाद। किन्तु ठीक समय पर ही सदैव शुरू होता रहा है और आयन्दा भी ऐसा ही होगा। ऋषि की अनुमति से संघ में उपस्थित एक प्रेमी ने मग्न होकर एक भजन गायन किया:—

अशरण शरण; शरण हम तेरी।
भूले हैं, मार्ग विपिन सघन है—छाई गहन अन्धेरी ॥ १ ॥
स्वार्थ समीर चली ऐसी—सब सुमन सुमन बिखराये।
हा सद्भाव-सुगन्धि चुराई प्रेम प्रदीप बुझाये ॥ २ ॥
कलह कण्टकों से छिदवाया सुख रस सभी सुखाया।
भ्रातृभाव के नाते तोड़े—अपना किया पराया ॥ ३ ॥
लख दुर्दशा हमारी नभ ने ओस बूंद छलकाई।
वह भी हम पर गिर कर फूटी इधर उधर कतराई ॥ ४ ॥
करुणासिन्धु सहारा तेरा, तू ही है रखवाला।
दीन अनाथ हुए हम हा! हा! तू दुःख हरने वाला ॥ ५ ॥
ऐसी कृपा प्रकाश दिखावे—अपनी दशा सुधारें।
आत्मत्याग का मार्ग पकड़ लें विश्वप्रेम उर धारें ॥ ६ ॥

भजन समाप्त हुआ ही था और समय पूरा होने में जब केवल एक मिनट बाकी था—तब क्या देखते हैं कि १०-१२ अच्छे शिक्षित विद्वान्, जिनमें कई विदेशी विद्वान् भी थे, संघमें सम्मिलित हुये और आत्मवेत्ता ऋषि का यथोचित सम्मान

करने के बाद उचित स्थानों पर बैठ गये। संघ के कार्यारम्भ होने का समय भी हो चुका था, इसलिये ऋषि ने अपना उपदेश प्रारम्भ किया:—

आत्मवेत्ता—यह बात कही जा चुकी है कि मनुष्य और प्रत्येक प्राणी शरीर और आत्मा के संयोग से उत्पन्न होता है वेद में कहा गया है कि शरीर में आने जाने वाला जीव अमर है परन्तु यह शरीर केवल भस्म होने तक रहता है, उसके बाद नष्ट हो जाता है।* इसका भाव यह है कि आत्मा तो सदैव एक ही बना रहता है, परन्तु शरीर बराबर प्रत्येक जन्म में बदलता रहता है, इसी लिये आत्मा को अमर और शरीर को मरणधर्मा कहा गया है।

श्री हर्ष—क्या आत्मा कभी पैदा ही नहीं होता? जगत् के प्रारम्भ में तो ईश्वर उसकी भी रचना करता ही होगा?

आत्मवेत्ता—नहीं, आत्मा की रचना कभी नहीं होती, इसी लिये सत्शास्त्रों में उसके लिये कहा गया है कि "आत्मा न तो उत्पन्न होता और न मरता है, न उसका कोई उपादान कारण (Material Cause) है और न वह किसी का उपादान है, अर्थात् न वह किसी से उत्पन्न होता है, और न उससे कोई उत्पन्न होता है वह (आत्मा) अजन्मा, नित्य, प्राचीन और

* वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्॥ यजु० अ० ४०॥

सनातन है, शरीर के नाश होने से उसका नाश नहीं होता है।*
(यह उत्तर देने के वाद आत्मवेत्ता ने पुनः अपना उपदेश शुरू किया)।

आत्मवेत्ता—आत्मा के इस प्रकार शरीरों के वदलते रहने की प्रथा का नाम पुनर्जन्म या आवागमन है, जब प्राणी एक शरीर (तात्पर्य मनुष्य शरीर से है) छोड़ता है तो इस प्रकार शरीर छोड़ने या मरने के वाद उसकी तीन गति होती हैं। जो आगे कही जायगी।

दूसरा परिच्छेद

"मरने के वाद की पहिली गति"

"आवागमन आवश्यक है"

आत्मवेत्ता—मनुष्य की पहिली गति वह है, जिसमें उसके पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म संचित होते हैं। "नचिकेता" ने एक वार 'यम' से यही प्रश्न किया था कि मरने के वाद प्राणी की क्या गति होती है? "यम" ने उसका उत्तर दिया था कि "मरने के वाद एक प्रकार के प्राणी तो जंगम (मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि चलने फिरने वाले प्राणियों की) योनियों को प्राप्त होते हैं।

---

* न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नवभूव कश्चित्।
अजोनित्य शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (कठोपनिषद् २। १८) इसी उपनिषद् वाक्य को गीता में भी उद्धृत किया गया है, वहुत थोड़े पाठ भेद के साथ (देखो गीता २। २०)।

परन्तु दूसरे प्रकार के प्राणी स्थावर (न चलने वाले वृक्षादि) योनियों में जाते हैं।" ये दो अवस्थायें प्राणियों की क्यों होती हैं? यमाचार्य्य ने इसका उत्तर यह ही दिया था कि उन प्राणियों के ज्ञान और कर्म के अनुसार ही ये विभिन्नता होती है।* जब मनुष्य के पुण्य पाप बराबर या पुण्य कर्म अधिक होते हैं, तब उसे मनुष्य-योनि प्राप्त होती है। परन्तु जब अवस्था इसके विरुद्ध होती है, अर्थात् पुण्य कर्म कम या कुछ नहीं या पाप अधिक, या सब पाप ही पाप होते हैं, तो उसे मनुष्य से नीचे दरजे की चल और अचल योनियों में जाना पड़ता है।

वसन्तीदेवी—क्या जीव, मनुष्य योनि तक पहुँच कर, फिर अपने से निम्न श्रेणी की योनियों में भी जा सकता है!

आत्मवेत्ता—हां! जा सकता है। यदि उसके कर्म अधिकता के साथ बुरे हैं, तो अवश्य उसे नीचे जाना पड़ेगा।

"मनुष्यों को नीचे की योनियों में भी जाना पड़ता है"

वसन्तीदेवी—परन्तु यह तो विकास के नियमों के विरुद्ध है कि मनुष्य उन्नति करके फिर पीछे लौटे।

आत्मवेत्ता—दुनियां में एक पहिये की गाड़ी कभी नहीं चलती। ह्रास शून्य विकास की कल्पना भी क्लिष्टकल्पना ही नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है। जगत् में कोई वस्तु नहीं देखी

"विकास के साथ ह्रास अनिवार्य है"

---

* योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ (कठोपनिषद्, ५ । ७)

जाती, जिसमें विकास के साथ ह्रास लगा न हो। मनुष्य उत्पन्न होता है, परन्तु अन्त में उसे मरना भी पड़ता है। सूर्य चमता है, उसकी उष्णता पूर्ण कला प्राप्त कर लेती है, परन्तु पूर्णता के बाद ही ह्रास शुरू हो जाता है। एक समय आता है और आवेगा जब सूर्य उष्णता-हीन हो जावेगा। चन्द्रमा बढ़ता है, परन्तु पूर्णकला को प्राप्त करके उसे घटना भी पड़ता है। एक समय चन्द्रमा में जलादि का होना बतलाया जाता था, परन्तु अब कहते हैं कि जल का ह्रास होकर चन्द्रमा जलशून्य हो गया है इत्यादि। इस प्रकार जब सृष्टि का सार्वत्रिक नियम यह है कि विकास के साथ ह्रास भी होता है, तब मनुष्य इस नियम से किस प्रकार पृथक् हो सकता है। इसके सिवा कर्म सिद्धान्त की दुनियां में जब हम प्रविष्ट होते हैं, तो वहां तो पुण्य कर्म के साथ पाप कर्म मोजूद ही है और पुण्यकर्म करके यदि उत्तम फल प्राप्त प्राणी किया करता है, तो पापकर्म कर के उसके फल से किस प्रकार बच सकता है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, यह स्वतन्त्रता उसका जन्म-सिद्ध अधि-कार है। परन्तु चोरी और इसी प्रकार के दुष्ट कर्म करके उसे जेलखाने जाना पड़ता है, जहाँ उसकी स्वतन्त्रता छिन जाती है। क्या तुम नहीं देखते कि स्वतन्त्रता प्राप्त प्राणी दुष्ट कर्मों से बन्धन में आकर स्वतन्त्रता खो बैठता है।

वसन्तोदेवी—यह तो देखा ही जाता है।

आत्मवेत्ता—तो फिर यदि ह्रासशून्य विकास ही का नियम दुनिया में काम करता होता, तो स्वतन्त्रता प्राप्त मनुष्य

परतन्त्र कैसे हो जाता? भूल यह है कि तुम कर्म सिद्धान्त को भूल कर केवल विकास रूप मृग-तृष्णा से प्यास बुझाने की इच्छा में हो. प्राणी कर्म फल ही से मनुष्य बनता है और कर्म फल ही से प्राप्त मनुष्यता को खो भी देता है।

वसन्तीदेवी—वन्दी होना रूप परतन्त्रता तो अस्थायिनी होती है, परन्तु निम्न योनियों में जाना तो उससे भिन्न बात है।

आत्मवेत्ता—वन्दी होकर वन्दीगृह में जाना, और निम्न योनियों को प्राप्त होना इनमें नाम मात्र की विभिन्नता है। मनुष्य-योनि ही एक योनि है, जिसमें भोग के साथ प्राणी स्वतन्त्रता से कर्म कर सकता है। बाकी जितनी योनियां हैं, वे सभी भोक्तव्य योनियां, जेलखाने के सदृश हैं मनुष्य जितनी अवधि के लिये इन योनियों में जाता है, उसे समाप्त करके फिर जेलखाने से वापिस होने के सदृश मनुष्य योनि में लौट आता है।

देवप्रिय—प्राणी इन योनियों में आखिर जाता क्यों है?

आत्मवेत्ता—प्राणी स्वयमेव—अपनी इच्छानुसार-इन नीचे की योनियों में नहीं जाता, किन्तु वन्दी होकर जेलखाने में भेजे जाने के सदृश ही, इन निम्न योनियों रूपी जेलखानों में भी सर्वोच्च न्यायाधीश की आज्ञानुसार, दण्ड भोगने के लिये, किन्तु सुधार के उद्देश से भेजा जाता है।

"आवागमन मनुष्य सुधार के लिये है"

देवप्रिय—वहां सुधार किस प्रकार होता है ?

आत्मवेत्ता—मनुष्य का पाप यही है कि वह अपनी इन्द्रियों को पापकर्म करने का अभ्यासी बना कर स्वयमेव उसके बन्धन में फंस जाता है। तब दयालु न्यायाधीश अपनी दयापूर्ण न्याय व्यवस्था से उसे ऐसी किसी योनि में भेज देता है जहां उसकी वही इन्द्रिय छिन जाती है। कल्पना करो कि एक मनुष्य ने आंखों को पापमय बना लिया है, तो वह किन्हीं ऐसी योनियों में भेज दिया जायगा, जो चक्षु-हीन हैं। करने से करने का और न करने से न करने का अभ्यास हुआ करता है इसलिये आँखों के गोलकों के न होने से आंखों का काम बन्द हो गया और काम बन्द हो जाने से आंखों का बुरा और पाप करने का अभ्यास छूट जावेगा, ज्यों ही वह अभ्यास छूट जाता है, त्यों ही वह फिर मनुष्य योनि में लौटा दिया जाता है, जहां अब आँखों के बन्धन से स्वतन्त्र है। इसी प्रकार आवागमन के द्वारा प्राणियों का सुधार ही हुआ करता है। जब कोई अधम प्राणी सम्पूर्ण इन्द्रियों से पाप करके उन्हें पाप मय बना लेता है तब वह स्थावर योनियों में भेज दिया जाता है। जो इन्द्रिय रहित योनियाँ हैं, उनमें जाने से समस्त इन्द्रियां का उपर्युक्त भांति सुधार हुआ करता है।

"दया तथा न्याय"

तर्कप्रिय—आपने ईश्वर को दयालु, न्यायाधीश कह कर संकेत किया है। भला न्याय और दया ये परस्पर विरोधी गुण किस प्रकार एक व्यक्ति में एकत्रित रह सकते हैं ?

आत्मवेत्ता—न्याय और दया परस्पर विरोधी गुण नहीं हैं। इनके समझने में साधारण पुरुष ही नहीं, किन्तु कभी २ उच्च कोटि के विद्वान् भी गलती किया करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी इसी प्रकार की भूल की है। उसने ईश्वर को अज्ञेय [Unknowable] प्रमाणित करने के लिये एक हेतु यह भी दिया है कि न्याय और दया दो विरोधी गुण किस प्रकार एक ही व्यक्ति में इकट्ठे हो सकते हैं। * इस प्रकार के पक्ष का समर्थन करने वाले एक भूल किया करते हैं और वह भूल यह है कि वे दया का भाव अपराधों का माफ करना समझ लिया करते हैं। अपराधों का माफ करना दया नहीं, किन्तु अन्याय है और दया और अन्याय एक भाव के बतलाने वाले शब्द नहीं हैं, किन्तु एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हैं

तर्कप्रिय—तो फिर दया और न्याय में अन्तर क्या है ?

आत्मवेत्ता—दया और न्याय में अन्तर यह है कि न्याय कर्म की अपेक्षा रखता है। जब कोई पुरुष कर्म न करे तो कोई न्यायाधीश न्याय नहीं कर सकता। न्याय कर्म के फलाफल देने का नाम है। परन्तु दया दयालु अपनी ओर से किया करता है। दया के लिये कर्म की अपेक्षा नहीं, दोनों में जो अन्तर है, वह स्पष्ट होगया कि न्याय के लिए कर्म की अपेक्षा है, परन्तु दया के लिये कर्म अपेक्षित नहीं।

तर्कप्रिय—यदि ईश्वर के लिये यह कल्पना की जावे कि वह अपराधों को उचित समझने पर माफ भी कर सकता

* देखो First principle by H. Spencer

हैं, तो इसमें हानि क्या है ? इससे मनुष्यों में ईश्वर के प्रेम और श्रद्धा के भाव ही उत्पन्न होंगे।

आत्मवेत्ता—अपराधों का दण्ड विधान न होने, और क्षमा कर देने का फल यह होता है कि मनुष्यों की प्रवृत्ति अपराध करने की ओर बढ़ा करती है। अपराध करने से जो बुरा प्रभाव मनुष्य के अन्तःकरण पर पड़ा करता है, जिन्हें कर्म की रेखा कहते हैं, वह प्रभावरूप रेखा फल भोग के विना नष्ट नहीं होती। इसलिये मनुष्य का भविष्य सुधारने के लिये अपराधों का दण्ड विधान अनिवार्य है। परन्तु वह दण्ड सब के लिए एकसा नहीं हो सकता। एक लज्जाशील विद्यार्थी के लिए एक अपराध के बदले में इतना ही दण्ड पर्याप्त हो सकता है कि उसे केवल आंखों से ताड़ना कर दी जावे। परन्तु दूसरे निर्लज्ज विद्यार्थी को उसी अपराध के बदले में बेतों से दण्ड देना भी कठिनता से काफ़ी समझा जाता है। इसलिये दण्ड की मात्रा उतनी ही पर्याप्त हो सकती है, जितने से अपराधी का सुधार हो सके और वह प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसकी अवस्थानुसार पृथक् २ ही हो सकती और हुआ करती है।

आत्मवेत्ता—(इन उत्तरों के देने के बाद ऋषि ने फिर अपना व्याख्यान शुरू किया) जिस समय मनुष्य मृत्यु-शय्या पर होता है और अन्तिम श्वास लेने की तैयारी करता है, तब उसकी निम्न अवस्था होती है।

——*——

"प्राण छोड़ने के समय प्राणी की क्या हालत होती है ?"

जिस प्रकार कोई राजा जब कहीं जाता है, तब उसे विदा करने के लिये उसके पास ग्राम नायक आदि आते हैं, इसी प्रकार जीवात्मा जब ऊर्ध्वश्वास लेना शुरू करता है, तब उस के चारों ओर सब इन्द्रियां और प्राण उपस्थित होते हैं। जीव उस समय अपने तैजस अंशों को जो समस्त शरीर में फैला रहता है समेटता हुआ हृदय की ओर जाता है, जब वह आंख के तेज को खींच लेता है तब वह बाहर की किन्हीं वस्तुओं को नहीं देखता, और उस समय निकट बैठे बान्धव कहने लगते हैं कि अब यह नहीं देखता, इसी प्रकार जब वह प्राण वाक्, श्रोत्र, स्पर्श, मनादि समस्त बाह्य और अन्तःकरणों से अपने तेज को खींच लेता है, तब वे ही बन्धु बान्धव कहने लगते हैं, कि अब यह नहीं सूंघता, नहीं बोलता, नहीं सुनता नहीं छूता, नहीं जानता इत्यादि। उस समय उसके हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होने लगता है और वह उसी प्रकाश के साथ शरीर से निकलता है * नेत्र या शरीर के किसी दूसरे भाग से निकलता है। निकलने के मार्गों का भेद उसकी अन्तिम गतियों के अनुकूल होता है ‡ जब जीव शरीर से निकलता है

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४ ब्राह्मण कण्डिका १–२

‡ कठोपनिषद् में लिखा है कि जब जीव मुक्ति का अधिकारी हो जाता है, तब शरीर से मूर्द्धा में निकलने वाली नाड़ी (सुषुम्ना) के द्वारा निकलता है। परन्तु जब मुक्ति से भिन्न गति होती है तब अन्य मार्गों से निकला करता है। [कठो० ६ । १६]

तो उसके साथ ही प्राण और सम्पूर्ण सूक्ष्म इन्द्रियां (सूक्ष्म शरीर) भी स्थूल शरीर को छोड़ते हैं। इस प्रकार शरीर से निकलने वाले जीव के साथ उसके ज्ञानकर्म और पूर्वप्रज्ञा (पूर्वजन्मानुभूत बुद्धि) भी होते हैं * इस प्रकार पुण्य और दोनों के वशीभूत जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीर ग्रहण कर लेता है।

"एक योनि से दूसरी योनि तक पहुंचने में कितना समय लगता है"

शीलभद्र—एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर के ग्रहण करने में जीव को कितने दिन लगते हैं और इन दिनों में वह जीव कहां रहता है?

आत्मवेत्ता—"याज्ञवल्क्य" ने "जनक" को इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था कि जैसे "तृणजलायुका" (एक कीट विशेष) एक तिनके के अन्तिम भाग पर पहुँच कर दूसरे तिनके पर अपने अगले पांव जमा कर तब पहिले तिनके को छोड़ती है इसी प्रकार जीवात्मा एक शरीर को उसी समय छोड़ता है, जब दूसरे नये शरीरका आश्रय ग्रहण कर लेता है।†

शीलभद्र—आखिर इसमें कुछ समय तो लगता ही होगा बिना समय के तो कार्य नहीं हो सकता।

---

* देखो वृहदारण्यकोपनिषद् ४—४—२।

† „ „ ४—४—३।

आत्मवेत्ता—अवश्य कुछ न कुछ समय एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर के ग्रहण करने में लगता है; परन्तु वह समय इतना थोड़ा होता है कि मनुष्य ने जो समय की नाप तोल (दिन, घड़ी मुहूर्त्तादि) नियत की है, उस गणना में नहीं आता

इन्द्रदेव—यह जीव दूसरे शरीर में जाता क्यों है? जब

"जीव दूसरे शरीर में क्यों जाता है?"

एक शरीर से निकलना उसके अधिकार में है, तो दूसरे में जाना भी उसी के अधिकार में होना चाहिये।

आत्मवेत्ता—एक शरीर का छोड़ना और दूसरे का ग्रहण करना इन दोनों में से एक भी जीव के अधिकार में नहीं है। शरीरस्थ जीव के लिए एक जगह "जनक" के एक प्रश्न का उत्तर देते हुये "याज्ञवल्क्य" ने बतलाया था कि "वह विज्ञानमय, अन्नमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, अपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, कार्यमय, अकार्यमय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, एवं सर्वमय हैं, यह जीव इदम्मय और अदोमय है। इसीलिये उसको सर्वमय कहते हैं। जैसे कर्म और आचरण करता है, जीव वैसा ही हो जाता है। साधु (अच्छे) कर्म वाला साधु और पाप कर्म से पापी होता है। पुण्यकर्म से पुण्यवान और पापकर्म से पापी होता है। यह जीव काम (इच्छा) मय है। जैसी उसकी कामना होती है, वैसा ही वह कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है † एक और ऋषि ने कहा है कि "जो

† बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४ ब्रा० ४ कं० ५।

मनुष्य मन में उनकी वासना रखता हुआ जिन जिन विषयों की इच्छा करता है, वह उन उन कामनाओं के साथ, जहां जहां वे उसे खींच कर ले जाती हैं, वहां वहां उत्पन्न होता है"‡. इन कथनों से स्पष्ट है कि जीव अपने कर्मानुसार एक शरीर छोड़ने और दूसरे के ग्रहण करने में परतन्त्र होता है-अर्थात् कर्मानुसार उसे जहां उत्पन्न होना चाहिये, वहीं उत्पन्न होता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

विनयकुमार—आपने कभी कहा था कि जीव सूक्ष्म शरीर और इन्द्रियों के साथ शरीर से निकलता है। क्या उसकी मृत्यु नहीं होती?

"शरीर के भेद और उनका विवरण

आत्मवेत्ता--सूक्ष्म शरीर की मृत्यु नहीं होती-मृत्यु केवल स्थूल शरीर की हुआ करती है इन दो के सिवा एक तीसरा कारण शरीर और भी है, उसकी भी मृत्यु नहीं होती। सूक्ष्म और कारण ये दोनों शरीर आत्मा से उस समय तक पृथक् होते हैं जब वह पूर्ण स्वतन्त्रता रूप मृत्यु को प्राप्त कर लेता है।

विनयकुमार—ये तीन शरीर आत्मा को दिये गये हैं। क्या एक शरीर से आत्मा का काम नहीं चल सकता था?

आत्मवेत्ता--एक शरीर से चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म तीनों शरीरों का काम नहीं चल सकता था, तीनों के काम पृथक् २ इस प्रकार हैं—

---

‡ मुण्डकोपनिषद् ३। १, २।

(१) 'स्थूल शरीर'—यह १० इन्द्रियों का समुदाय है और शरीर के व अवयव भी उसमें शामिल हैं, जिनका काम अनिच्छित रीति से प्राकृतिक नियमानुसार होता है, जैसे हृदय फेफड़े आदि। इस शरीर के विकसित और पुष्ट होनेसे मनुष्य की शारीरिकोन्नति होती है। यह शरीर ५ स्थूलभूतों का कार्य्य होता है।

(२) "सूक्ष्म शरीर"—सूक्ष्म भूतों से निम्न भाँति बनता है:—

सूक्ष्मभूत रूपी कारण	सूक्ष्म शरीर रूपी कार्य्य
१ महत्तत्व	१ बुद्धि
२ अहंकार	१ अहंकार (*)
३-७, पञ्च तन्मात्रा	३-७ शब्द-स्पर्श-रूप रस-गन्ध (ज्ञानेन्द्रियों के विषय)
८-१७:१० इन्द्रियां	८-१७=५ प्राण+५ ज्ञानेन्द्रियाँ
१८ मन	१८ मन

(*) अहंकार को सूक्ष्म शरीरावयवों की गणना से प्रायः पृथक् करके सूक्ष्म शरीर १७ वस्तुओं का ही समुदाय माना जाता है, इसका कारण यह है कि अहंकार का काम शरीर के पृथक् निर्मित हो जाने से पूरा-सा हो जाता है।

यह सूक्ष्म शरीर शक्ति समुदाय रूप में रहता है और इसके विकास और पुष्टित होने से मानसिकोन्नति होती है—

(३) कारण शरीर—कारण रूप प्रकृति अर्थात् सत्व, रजस् और तामस् की साम्यावस्था। इस शरीर के पुष्ट होने से मनुष्य योगी और ईश्वर भक्त बना करता है।

इन तीन शरीरों का विभाग एक दूसरे प्रकार से भी किया गया है। इस विभाग का नाम "कोश विभाग" है। ३ शरीर और ५ कोशों का सम्बन्ध इस प्रकार है:—

"३ शरीर और ५ कोष"

(१) स्थूल शरीर	=	(१) अन्नमय कोष
(२) सूक्ष्म शरीर	=	(२) प्राणमय कोष
		(३) मनोमय कोष
		(४) विज्ञानमय कोष
(३) कारण शरीर	=	(५) आनन्दमय कोष

क्या सूक्ष्मशरीरधारियों का पृथक् लोक है ?

बसन्तीदेवी—क्या सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर का सूक्ष्मरूप सूक्ष्म पुतले की भांति नहीं होता ? कहा तो यह जाता है कि सूक्ष्मशरीर (astral body) धारियों का एक पृथक् लोक है, और वे उस लोक में विना स्थूल शरीर ही के रहते हैं। अपना काम उसी अपने सूक्ष्मशरीर से चला लेते हैं। अपनी इच्छानुसार मनुष्यों की सहायता भी करते हैं मनुष्यों की प्रार्थना का

स्वीकार या अस्वीकार करना इन्हीं सूक्ष्म शरीरधारियों के ही अधिकार में है, इत्यादि।

आत्मवेत्ता—ये सब क्लिष्ट कल्पना मात्र है। सूक्ष्म-शरीर के अवयव, सूक्ष्मेन्द्रिय कुछ भी काम नहीं दे सकते। यदि उनके कार्य्य का साधन रूप स्थूलेन्द्रिय (इन्द्रियों के गोलक) नहीं। एक पुरुष सूक्ष्म चक्षु और सूक्ष्म श्रोत्रेन्द्रिय रखता है। परन्तु यदि बाह्यगोलक न हों या काम देने के अयोग्य हों, तो वह न देख सकता है, और न सुन सकता है, फिर यह बात किस प्रकार स्वीकृत हो सकती है, कि सूक्ष्मशरीर से कोई अपना सब काम चला सकते हैं और यह कि उनका एक पृथक् ही लोक है।

"भूतप्रेत क्या है?"

वसन्तीदेवी—ये भूतप्रेत फिर क्या हैं? ये किस प्रकार का शरीर रखते हैं, आंखों से तो उनका शरीर नहीं दिखाई देता।

आत्मवेत्ता—मनुष्य जब मर जाता है, तो उसके शव (लाश) का नाम "प्रेत" है, जब तक उसको भस्म नहीं कर दिया जाता, तब तक उसका नाम 'प्रेत' ही रहता है, भस्म हो जाने के बाद "प्रेत-संज्ञा" समाप्त हो गई और अब उस मरे हुये पुरुष को "भूत" (बीता हुआ) कहने लगते हैं, क्योंकि वर्तमान में उसकी कोई सत्ता बाक़ी नहीं रहती, इसके सिवा भूत-प्रेतयोनि आदि के विचार भ्रममूलक हैं।

(इस प्रकार प्रश्नों का उत्तर देने के बाद ऋषि ने अपना व्याख्यान समाप्त करने के लिये अन्तिम शब्द कहने प्रारम्भ किये)।

आत्मवेत्ता—मरने के वाद जो तीन गति होती हैं, उनमें से पहिली गति आवागमन के चक्र में रहना है, अर्थात् मरकर किसी न किसी योनि को, अपने कर्मानुसार प्राप्त करना है। प्राणी एक शरीर को छोड़कर तत्काल दूसरी योनि में चला जाता है, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है। आगामी संघ में शेष गतियों का व्याख्यान किया जायगा, आज का संघ यहीं समाप्त होता है।

तीसरा परिच्छेद"

"पांचवां संघ"

मरने के वाद की दूसरी गति

"दूसरी गति कौनसी है"

उज्ज्वल तपो भूमि, तपोनिधि आत्मवेत्ता के तप के कारण हर्ष और शान्ति के वातावरण से परिपूर्ण है, सुन्दर संघ जमा हुआ है—अनेक नर नारी मृत्यु के वाद दूसरी गति क्या होती है, इसके जानने की इच्छा से एकत्रित हैं और कान लगाये हुये बैठे हैं, कि ऋषि कब अपना मनोहर व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं। नर-नारियों की इस उत्सुकता का अनुभव करते हुये ऋषि ने अपना व्याख्यान आरम्भ किया:—

आत्मवेत्ता—जो प्राणी ऐसे कर्म करते हैं, जो पुण्य और पाप मिश्रित होते हैं, मरने पर वे उस गति को प्राप्त होते हैं,

जिसकी बात कही जा चुकी है; और जिसका नाम "पहिली गति,, रक्खा गया है—परन्तु जो प्राणी केवल ऐसे कर्म करते हैं, जिनमें पाप का समावेश नहीं होता; और जिन्हें पुण्य-कर्म ही कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं:—एक तो वे जो सकाम कर्म करते हैं—और दूसरे वे, जो निष्काम कर्म करते हैं। सकाम कर्म वाले मर कर जिस गति को प्राप्त होते हैं, उसी गति का नाम "दूसरी गति" है।

दूसरी गति

"इस गति के प्राप्त होने का क्रम"

जो प्राणी इष्ट फल की प्राप्ति के लिये बड़े बड़े यज्ञ* करते हैं, या अपनी कामनाओं की तृप्ति के लिए जो कुआं †, बावड़ी, तालाब, धर्मशाला आदि का निर्माण करते हैं, ऐसे पुरुष मरने के बाद निम्न दशाओं को प्राप्त होते ‡ हैं:—

[१] धूम्र [धुआं] की सी दशा को प्राप्त होते हैं।

[२] धूम्र दशा से रात्रिवत दशा होती है।

[३] रात्रि से अपर [कृष्णा] पक्षीय दशा लाभ करते हैं।

[४] अपर पक्ष से षरामासिक दाक्षणायिणी दशा प्राप्त करते हैं।

[५] षरामासिकी दशा से पैतृक दशा प्राप्त होती है।

[६] पैतृक से आकाशीय दशा और उससे अन्तिम।

---

* इन यज्ञादि को "इष्ट" कहते हैं।

† इनका "पूर्त्त नाम है।

‡ देखो छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ५ खण्ड १० प्रवाक ४।

[७] चान्द्रमसी दशा को पहुँचते हैं।

इस प्रकार चान्द्रमसी दशा को प्राप्त हो कर इस अवस्था में वे अपने शुभ परन्तु सकाम कर्मों का भोग करते हैं। और कर्मों के क्षीण और भोगों के समाप्त होने पर उन्हें फिर कर्तव्ययोनि में आना पड़ता है।

श्वेतकेतु—ये धूम्रादि अवस्थायें क्या हैं और इनके प्राप्त होने का तात्पर्य क्या है?

आत्मवेत्ता—इन अवस्थाओं के द्वारा यह बात दर्शाई गई है कि किस प्रकार जीव क्रमशः अधिक अधिक प्रकाश को प्राप्त करता है। धुयें में नाम मात्र का प्रकाश होता है। रात्रि से अधिक, अपर पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष की १५ रात्रि में उस से अधिक, ६ मास में उससे अधिक, पैतृक दशा में उससे भी अधिक और आकाशीय में उससे अधिक और इन सब से अधिक चान्द्रमसी दशा प्रकाश की प्राप्ति और अन्धकार की निवृत्ति होती हैं।

"पैतृक दशा क्या है?" दक्ष—पैतृक दशा क्या है?

आत्मवेत्ता—पैतृक दशा वायवीय दशा को कहते हैं और पितर-पालक और रक्षक का नाम है, वायु के भी यही काम हैं इसलिए पितर नाम वायु का भी है, पंच भूतों के आकाश के बाद वायु का स्थान भी है, इसके सिवा लौटने के क्रम में भी आकाश के बाद वायु ही का स्थान है, इससे भी स्पष्ट है कि पितर नाम वायु ही का है—

दत्त—और चान्द्रमसी दशा का तात्पर्य चन्द्रलोक से है, या क्या ?

आत्मवेत्ता—चान्द्रमसी दशा को प्राप्त होने का भाव यह है कि ऐसे (लोक) को प्राप्त होना, जिसमें केवल हर्ष ही हर्ष हो— दुःख का लेश भी न हो।

"दूसरी गति को प्राप्त जीव कहां रहते हैं ?"

देवप्रिय—चान्द्रमसी दशा को प्राप्त होकर जीव किसी लोक (स्थान) विशेष में रहते हैं, या कहां ?

आत्मवेत्ता—ब्रह्माण्ड में असंख्य सूर्य्यलोक हैं, असंख्य चन्द्रलोक और असंख्य ही पृथ्वीलोक हैं। मरते समय मन जहां और जिस कामना में आसक्त होता है, उस कामना की पूर्ति जिस लोक और योनि में हो सकती है जीव वहीं जाता है *।" इस गति को प्राप्त भिन्न भिन्न प्राणी भिन्न भिन्न लोकों को प्राप्त होते हैं, सबके लिये कोई एक स्थान विशेष नियत नहीं है। इस प्रकार प्राणियों से में जो कोई जहां भी जाता है, उसे वहां सुख ही सुख प्राप्त होता है, दुःख प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये उस लोक या योनि का नाम, जहां भी जीव जाता है, चन्द्रलोक या चान्द्रमसी दशा ही होती है और इस प्रकार भिन्न भिन्न लोकों (योनियों) को प्राप्त होने का क्रम सब के लिये एक ही सा होता है, और यह क्रम वही है जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

* बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ४० ब्रा० ४ कं० ६।

तत्ववित्—जब सकाम कर्म कर्ता पाप नहीं करते, तो इनकी मुक्ति क्यों नहीं हो जाती और इन्हें चान्द्रमसी दशा से लौटना क्यों पड़ता है?

आत्मवेत्ता—इसका कारण वासना है, जो सकाम कर्म से उत्पन्न होती है।

तत्ववित्—वासना क्या है?

आत्मवेत्ता—वासना के समझने के लिये कर्म के भेदों का जानना आवश्यक है, इसलिये पहले इन्हीं को कहते हैं:—

कर्म दो प्रकार के होते हैं, जैसा कहा भी जा चुका है—

"कर्म के भेद"

(१) सकाम (२) निष्काम। सकाम कर्म वे होते हैं, जिनमें कर्म करने से पूर्व फल की इच्छा करली जाती है परन्तु फल की इच्छा उत्पन्न न करके, जो कर्म किये जाते हैं, अर्थात् जो कर्म केवल धर्म—(कर्तव्य—Duty) समझ कर किये जाते हैं, उनको निष्काम कर्म कहते हैं। वैदिक कर्म पद्धति में निष्काम कर्म का उपासन है; वेद और उपनिषदों ने निष्काम कर्म को मृत्यु के बन्धन काट देने का साधन* माना है। गीता ने निष्काम कर्म ही को "कर्मयोग,, के नाम से पुकारा है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुये स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि:—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥"

(गीता २।४७)

---

*"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा" (यजुर्वेद ४०।११) अविद्या अर्थात् कर्म से मृत्यु के पार होकर।

अर्थात् "तेरा अधिकार केवल कर्म करने में है, फलों पर कभी नहीं—तू कर्मों के फलों का हेतु (इच्छा करके) मत हो, (परन्तु) अकर्म में भी तेरा फंसना न होवे।

जहां निष्काम कर्म का इतना उच्चासन है वहां सकाम कर्म बन्धन का हेतु ठहराया गया है-उपनिषद् का एक वाक्य है:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोपनिषद् २।२।८)

अर्थात् "जब हृदय की गांठ खुल जाती है, (अर्थात् सकाम कर्मजन्य वासना नष्ट हो जाती है), सम्पूर्ण संशय दूर हो जाते हैं, और सब (सकाम) कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है"। इस प्रकार निष्काम कर्म की वैदिक साहित्य में श्रेष्ठता दिखलाई गई है, और सकाम कर्म बन्धन का हेतु ठहराया गया है। मनुष्य को जहां सदैव धार्मिक जीवन रखने का विधान है, वहां उसे यह भी बतलाया गया है, कि सब काम (फल की इच्छा न करते हुये) धर्म समझ कर करने चाहियें, क्योंकि फल की इच्छा करने ही से कर्म्म बन्धन का हेतु हो जाता है।

जयदत्त—परन्तु निष्काम कर्म्म भी तो बिना इच्छा के नहीं किये जा सकते, फिर मनुष्य किस प्रकार इच्छा रहित हो सकता है?

आत्मवेत्ता—जब यह कहा जाता है, कि फल की इच्छा छोड़कर कर्म्म करे, तो इसका तात्पर्य्य यह नहीं होता कि

मनुष्य कर्माऽकर्म, धर्माऽधर्म का विवेक न करे, अच्छी तरह से विचार करके जो कर्म कर्त्तव्य ठहरें उन्हीं को करना चाहिये। फल की इच्छा न करने का भाव यह है, कि ऐसे कर्म न करें जो वासनोत्पादक हों—सकाम और निष्काम का असली फ़र्क यही है कि सकाम कर्म वासनोत्पादक होते हैं, जब कि निष्काम कर्म वासना नहीं पैदा करते।

"वासना"

प्रेमतीर्थ--वासना किसे कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर कृपा करके अब देवें।

आत्मवेत्ता—वासना एक प्रकार का संस्कार है, जो कृतकर्मों की स्मृति के रूप में चित्त में रहता है। इसका काम यह होता है, कि जिस कर्म की वासना होती है, उसी कर्म के फिर करने की प्रेरणा होती रहती है। यदि एक मनुष्य ने चोरी की, तो उसकी वासना उसको चोरी करने को फिर प्रेरणा करेगी। इसी प्रकार जिस कर्म की वासना होती है, उसी कर्म को पुनः करने की प्रेरणा करती रहती है। मुण्ड-कोपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य में इसी वासना को "हृदय ग्रन्थि" कहा है। जब तक यह "हृदय ग्रन्थि" [वासना] मनुष्य के अन्तःकरण में रहती है, उस समय तक मनुष्य जन्म मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।

"वासना के अनुकूल गति"

सुभद्रादेवी—आगामी जन्म किस प्रकार का होगा, क्या इस पर भी वासना का कुछ प्रभाव पड़ा करता है?

आत्मवेत्ता—वासना के अनुकूल ही आगामी जन्म हुआ करता है। उपनिषद् में कहा गया है—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति ॥

[प्रश्नोपनिषद् ३। १०]

अर्थात् "मरते समय प्राणी जैसी वासना से युक्त चित्त वाला होता है, उसी चित्त के साथ प्राण का आश्रय लेता है, और प्राण उदानवृत्ति के साथ युक्त हुआ सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा के साथ संकल्पित [वासनानुकूल] योनि को प्राप्त कराता है।" इसी आशय को एक दूसरी उपनिषद् में भी प्रकट किया गया है—

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान्
तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः

[मुण्डकोपनिषद् ३। १। १०]

अर्थात् "निर्मल बुद्धि वाला पुरुष जिस २ लोक (योनि) की मन से चिन्ता करता है और जिन भोगों को [वासना के वशीभूत होकर] चाहता है, उस २ लोक और उन २ भोगों को प्राप्त होता है। इसलिये सिद्धि का इच्छुक आत्मवित् पुरुष की पूजा करे।"

इन उपनिषद् के वाक्यों से स्पष्ट है, कि आगामी जन्म चित्त में जिस प्रकार की भी वासना होती है, उन्हीं के अनुकूल होता है। लोकोक्ति भी इसमें प्रमाण है। "अन्तमता सो गता"

अर्थात् अन्त में जैसी वासना होती है, उसी के अनुकूल गति होती है।

प्रेमतीर्थ—यदि चित्त वासनाओं से खाली हो, तो फिर किस प्रकार का जन्म मिलेगा?

आत्मवेत्ता—तो फिर कोई जन्म न होगा। जब चित्त वासना से खाली होता है, तो मनुष्य जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है। परन्तु चित्त वासनाओं से खाली उस समय तक नहीं हो सकता, जब तक मनुष्य सकाम कर्मों को छोड़कर निष्काम कर्म कर्त्ता नहीं बनता। इसी लिये निष्काम कर्म को सकामता से तरजीह दी गई।

विश्वम्भर—यदि मनुष्य निष्काम कर्म ही किया करे, तो क्या फल न चाहने की वजह से कर्म फल से वंचित रहेगा?

"कर्म का फल मिलना अनिवार्य है"

आत्मवेत्ता—कदापि नहीं, मनुष्य चाहे इच्छा करे या न करे, कर्म का फल तो अवश्य मिलता ही है। वेद में कहा गया है:—

याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
(यजुर्वेद ४०। ८)

अर्थात् "ईश्वर ने अनादि प्रजा जीवके लिये ठीक ठीक कर्म फलों का विधान किया है"। जब कर्म फल देने का ठीक ठीक विधान किया गया है, तो फिर कैसे सम्भव है, कि मनुष्य कर्म करके फलसे वंचित रहे। चाहे सकामकर्म करे, चाहे निष्काम, फल तो प्रत्येक कर्म का मिलता है, परन्तु सकाम कर्म करने से

हानि यह होती है, कि उससे बन्धन के मूल वासना की उत्पत्ति हो जाती है, जो मनुष्य को मरने जीने के चक्र में रखती है; इसीलिये मनुष्य को चेतावनी दी गई है, कि ऐसे कर्म करो जो बन्धन का हेतु न हो।

"निष्काम कर्म की विशेषता"

विश्वम्भर—निष्काम कर्म का फल मिल भी जावे, तो भी सर्व साधारण को उसकी उपयोगिता नहीं समझाई जा सकती।

आत्मवेत्ता—जरूर और बहुत सुगमता के साथ समझाई जा सकती है, और वह इस प्रकारः—कल्पना करो कि एक गृहस्थ के घर में पुत्र का जन्म हुआ, उस गृहस्थ ने पुत्र के जन्म के साथ ही अनेक आशायें बांधी कि पुत्र बड़ा होकर बहुत धन कमावेगा, और उसे देगा, और उसकी बहुत सेवा शुश्रूषा करेगाः इत्यादि। सम्भव है, कि पुत्र उसके आशानुकूल अच्छा निकले और उस गृहस्थ की आशायें पूरी करे। परन्तु यह भी सम्भव है कि पुत्र कुपुत्र न हो और गृहस्थ की आशाओं की पूर्ति न हो और गृहस्थ को दुःख उठाना पड़े। यह एक सकामवादी गृहस्थ का उदाहरण हुआ। अब एक दूसरा उदाहरण लोः—कल्पना करो कि एक दूसरे गृहस्थ के घर भी पुत्र का जन्म हुआ। यह गृहस्थ निष्कामता प्रिय है। इस लिये इसने उस पुत्र के साथ अपनी कोई इच्छा नहीं जोड़ी और अपना कर्तव्य समझा कि पुत्र की रक्षा करे और शिक्षा देकर अच्छा बना देवे, जैसा कि माता पिता का कर्तव्य है। अब कल्पना करो कि इतना यत्न करने पर भी पुत्र अच्छा न हुआ, और

उसने माता पिता को कुछ आराम नहीं दिया, तो इस सूरत में भी उस गृहस्थ को कोई कष्ट न होगा, इसलिये कि उसने पुत्र के साथ किन्हीं आशाओं को जोड़ा नहीं था, परन्तु यदि उनके सौभाग्य से पुत्र अच्छा हुआ और उसने उस गृहस्थ युगल को प्रसन्न किया और सभी प्रकार से उनके सन्तुष्ट करने की चेष्टा की, तो उस गृहस्थ को इस सेवा शुश्रूषा से पहले गृहस्थ की अपेक्षा कहीं अधिक सुख मिलेगा। क्योंकि आशा करने पर कुछ मिल जाना यदि सुखप्रद है, तो बिना आशा किये ही यदि कुछ मिल जावे, तो वह उससे भी अधिक सुखप्रद होगा। इन दोनों सकाम और निष्कामवादी गृहस्थों के उदाहरणों में देख लिया गया कि निष्कामवादी गृहस्थ को दोनों सूरतों में से, चाहे पुत्र अच्छा हो या नहीं, किसी सूरत में भी दुःखी नहीं होना पड़ा, जब कि पहले सकामवादी गृहस्थ को पुत्र के अच्छा न होने पर भी क्लेशित होना पड़ा था, क्योंकि उस सूरत में उसकी आशा के विरुद्ध नतीजा निकला था। *ये रोजमर्रा की बातें हैं और इन्हें सर्व साधारण अच्छी तरह से समझते और जानते हैं, कि कौन सी सूरत अच्छी और अनुकरणीय है। अर्थात् किसी कर्म में आशाओं का जोड़ना अच्छा है, या कर्म का बिना किसी आशा से सम्बन्धित किये कर्तव्य समझकर करना अच्छा है। कर्म के इस

* आशा ही दुःख का मूल है; इस को एक उर्दू के कवि ने बहुत अच्छी तरह प्रदर्शित किया है:—

"रहती थी * यास दिल में तो खटका न था कोई।
उम्मीद ही ने दिल रखा है अज़ाब में" ॥

* यास = निराश।

विवरण से भली भांति यह बात स्पष्ट हो गई कि सकाम कर्म से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है, जिसका नाम वासना है; और कहा जा चुका है कि जब तक मनुष्य के चित्त में यह वासना रहती है, तब तक वह आवागमन से छूट नहीं सकता; यही सबब है कि दूसरी गतिको प्राप्त सकाम कर्म कर्ताओं को चान्द्रमसी दशा प्राप्त करके फल समाप्त होने पर फिर लौटना पड़ता है।

तत्ववित्— दूसरी गति प्राप्त प्राणियों को जब लौटना पड़ता है, तो किस प्रकार से उन्हें लौट कर फिर कर्म करने के लिये बाधित होना पड़ता है ?

"दूसरी गति प्राप्त जीवोंके लौटनेकाक्रम"

आत्मवेत्ता— चान्द्रमसी दशा को प्राप्त जीव कर्म क्षीण होने पर, जो पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं, तो उनके लौटने का वही क्रम होता है, जिस क्रम से उन्होंने उस दशा को प्राप्त किया था। कुछ भेद अवश्य होता है—विवरण इस प्रकार हैः—

(१) चान्द्रमसी दशा से आकाशीय दशा प्राप्त करते हैं।

(२) आकाशीय दशा से वायवीय (पैतृक) दशा को पाते हैं।

(३) वायवीय दशा से धूम्र दशा को पहुँचते हैं।

(४) धूम्र दशा से अभ्र (बादलों के सूक्ष्म रूप) अवस्था लाभ करते हैं।

(५) आभ्रीय दशा से मेघ (बरसने वाले बादल) के साथ अन्न के द्वारा मनुष्य के शरीर में पहुँचते हैं, और वीर्य्य के

साथ रज से मिल कर माता के शरीर में गर्भ रूप धारण करके मनुष्य रूप उत्पन्न होते हैं।

शीलभद्र—चान्द्रमसी दशा को प्राप्त जीवों के साथ सूक्ष्म शरीर रहता है या नहीं और उन्हें स्थूल शरीर कब प्राप्त होता है ?

आत्मवेत्ता—मनुष्य का जब तक वासना से छुटकारा न हो, शरीर से भी छुटकारा नहीं हो सकता—चान्द्रमसी दशा को प्राप्त जीव सूक्ष्म शरीर के साथ ही उस अवस्था को प्राप्त होते हैं। उस अवस्था को प्राप्त होने का भाव यह है, कि उन्हें स्थूल शरीर भी मिल गया।

शीलभद्र—इस प्रकार तो वे मनुष्य ही हो गये, फिर उनमें और मनुष्यों में अन्तर क्या रहा ?

आत्मवेत्ता—यह ठीक है, उनमें तथा अन्य मनुष्यों में शरीरों की दृष्टि में कुछ अन्तर नहीं है—उन्हें उच्च कोटि का मनुष्य ही समझना चाहिये।

मनुष्यों के भेद।

प्रेमतीर्थ—क्या मनुष्य भी कई प्रकार के होते हैं ? यदि हां तो कितने प्रकार के ?

आत्मवेत्ता—मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं:—(१) प्रथम कोटि के मनुष्य वे होते हैं, जो केवल सुखों का उपभोग करते हैं। उनका पाप से सम्पर्क न होने से किसी प्रकार का दुःख भी उन्हें दुःखित नहीं कर सकता। इन्हीं का नाम देव है।

(२) दूसरे प्रकार के मनुष्य वे होते हैं जो पुण्य कर्मों के साथ समान मात्रा या न्यूनांश में पाप कर्म भी रखते हैं; और ऐसे प्राणी मनुष्य कहलाते हैं। (३) तीसरी कोटि के मनुष्य वे होते हैं, जो पापमय जीवन रखते हैं। न्यूनांश में जिनके पुण्य कर्म होते या बिलकुल नहीं होते। ऐसे ही प्राणी दस्यु; राक्षस और पिशाच नामधारी होते हैं। इनमें से सकाम कर्ता जीव जिन्होंने दूसरी गति को प्राप्त किया है, प्रथम श्रेणी के मनुष्यों में होते हैं और उनकी "देव" संज्ञा होती है।

"अन्न के द्वारा जीव क्यों आता है"

शीलवती—अन्न के द्वारा जीव मनुष्य शरीर में क्यों पहुँचता है। बिना अन्न के माध्यम के क्यों नहीं पहुँच जाता?

आत्मवेत्ता—शरीर का आदि उपादान "कलल रस" (Protoplasm), मनुष्य शरीर में नहीं बनता, किन्तु वनस्पतियों ही में बना करता है। इसी लिये मनुष्य शरीर में उत्पन्न होने वाले इस जीव के लिये अन्न (वनस्पति आदि) का आश्रय लेना पड़ता है।*

हर्षवर्धन—जीव गर्भ में कब आता है?

"गर्भ में जीव कब आता है?"

आत्मवेत्ता—जीव वीर्य के साथ पिता के शरीर द्वारा माता के शरीर में पहुँच कर रजसे मिल कर गर्भ की स्थापना का कारण बनता है। यदि

* अन्नादि के आश्रय लेने का तात्पर्य यह नहीं है, कि जीव वनस्पतियों की योनि में जन्म लेता है, किन्तु आकाशादि की भांति उसका अन्न से केवल सम्बन्ध होता है। [वेदान्त ३-१-२४]

जीव न हो तो न गर्भ की स्थापना हो, और न स्थापित गर्भ की वृद्धि।

हर्षवर्धन—ऐसा क्यों है? एक पश्चिमी * विद्वान् ने तो यह लिखा है, कि उत्पत्ति के बाद बालक में जीव उस समय आता है, जब बालक बोलने लगता है।

आत्मवेत्ता—जगत् में वृद्धि दो प्रकार से होती है, एक भीतर से, जैसे वृक्षादि की, और दूसरी बाहर से जैसे पत्थर, लोहा आदि की, इस भेद का कारण जीव का भाव और अभाव है। जिनमें जीव होता है, वे वस्तुयें भीतर से बढ़ती हैं, परन्तु जिनमें जीव नहीं होता वे बाहर से बढ़ती हैं, भीतर से नहीं बढ़ सकतीं। गर्भ की वृद्धि भीतर से होती है। इसलिये उसमें जीव की सत्ता का मानना अनिवार्य्य है। यह बात कि बालक में जीव उस समय आता है, जब वह बोलने लगता है, अनर्गल है। इसका अर्थ यह हुआ कि बोलने से पहिले बालक जो भी क्रियायें हाथ, पांव हिलाना, श्वास लेना, खाना, पीना, सोना जागना आदि करता है, वे सब जीव रहित मिट्टी के लोथड़े की हैं। यदि ऐसा ही है तो मिट्टी, ईंट, पत्थर या लोहे के खम्भे में ये सब क्रियायें क्यों नहीं होती दिखाई देतीं और यदि बोलने पर ही जीव का शरीर में होना निर्भर हो तो गूंगे आदमी को मरण-पर्य्यन्त जीव रहित ही समझने के लिए बाधित होना पड़ेगा।

जीव पहिले पिता के शरीर में क्यों जाता है?

वीरभद्र—क्या उत्पन्न होने वाला जीव पहिले पिता के शरीर में जाता और तब माता के शरीर में आता है। यह बात तो नई सी मालूम होती है।

[१, Riddle of Universe by E. Heeckel.

आत्मवेत्ता—बात चाहे नई-सी मालूम होती हो, परन्तु है शास्त्र प्रतिपादित, और शास्त्र भी ऐसे जिन्हें ऋषियों ने अपने अनुभव से लिखा है, जैसे उपनिषद् * प्रत्येक मनुष्य का अनुभव भी इसी का पोषक है, यह बात प्रायः सभी जानते और मानते हैं. कि क्षेत्र में पड़ने से बीज ही उगा करता है, क्षेत्र में उगने का सामर्थ्य नहीं है, हां, उसकी सहायता उगने के लिये अनिवार्य है। जब इस प्रकार से वृक्ष शरीर के निर्माण का कारण बीज (वीर्य्य) ही है, और वही भीतर से क्रमशः बढ़तः हुआ वृक्ष या शरीर के रूप में पहुँच जाया करता है, तो फिर यह मानने के लिये मजबूर होना पड़ता है, कि जीव की सत्ता बीज (वीर्य्य) ही में होनी चाहिये, इसलिये जीव का उत्पन्न होने के लिये गर्भ की स्थापनार्थ प्रथम मनुष्य शरीर में आकर वीर्य के साथ स्त्री के शरीर में पहुँच कर रज से मिलकर गर्भ की स्थापना का कारण बनाना तर्क और प्रमाण दोनों से समर्थित है।

---

* (क) जीव औषधियों के द्वारा वीर्य्यरूप होकर स्त्री के शरीर में जाता है [छान्दोग्योपनिषद् ५ । १० । ५ ।]

[ख] "ते पृथ्वीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाऽग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते" । अर्थात् तब वे पृथ्वी को प्राप्त होकर अन्न होते हैं और [अन्न के द्वारा] पुरुष रूप अग्नी में जाते हैं, तब स्त्री रूप अग्नि कुण्ड में वे [जीव] जाते हैं बृहदारण्यकोपनिषद् ६ । २ । १६]

[ग] वेदान्त ३ । १ । २६ में भी इसकी पुष्टि की गई है।

श्रीहर्ष--गर्भ में जीव का आना एक प्रकार का दण्ड समझा जाता है; तब दूसरी गति को प्राप्त जीव जिनके बुरे कर्म नहीं होते, क्यों यह दंड भोगते हैं ?

"गर्भ का दण्ड ये जीव क्यों भोगते हैं

आत्मवेत्ता--कहा जा चुका है, कि सकाम कर्म से जन्म मरण का कारण रूप वासना मनुष्यों में उत्पन्न हुआ करती है; और चान्द्रमसी दशा में पहुँचने वाले जीवों के साथ भी यह उत्पन्न वासना उनके सूक्ष्म शरीरों में निहित रहती है; कर्मफल क्षीण होने पर जीवों को इसी वासना के कारण, माता के गर्भ में आना पड़ता है। जन्म का कारण वासना, स्वयमेव उन्हीं जीवों की उत्पन्न की हुई होती है, इसलिये असाक्षात् रीति से उनके कर्म ही इस जन्म का कारण होते हैं, यदि वे सकाम प्रिय न होते तो यह वासना भी उनके गले न मढ़ती। भिन्न भिन्न प्रकार के वासनाओं के कारण, ये जीव अपनी अपनी वासनानुकूल भिन्न लोकों में पहुँचते, और वासनाओं की विभिन्नता के कारण ही, प्राप्त लोकों से लौटने पर, भिन्न स्थानों पर, जन्म पर जन्म लिया करते हैं।

देवप्रिय--जीव को कितना समय चान्द्रमसी दशा तक पहुँचने में लगा करता है ?

"कितना समय चान्द्रमसी दशा तक पहुंचने में लगता है?

आत्मवेत्ता--समय की नाप तोल करने के लिये मनुष्यों ने

जो समय के विभाग किये हैं, चान्द्रमसी दशा में पहुँचने का समय इतना अल्प होता है, कि उन विभागों में नहीं आता *।

देवप्रिय–जब जीव रात्रि-पक्ष षण्मासादि में होकर चान्द्रमसी दशा प्राप्त करते हैं, तब तो एक वर्ष से भी अधिक समय उन्हें उस अवस्था तक पहुँचने में लगना चाहिये।

आत्मवेत्ता–धूम्र, रात्रि, पक्षादि समय की नहीं, अपितु प्रकाश की मात्रा दिखलाने के लिये प्रयुक्त हुये हैं—इनके द्वारा क्रमशः प्रकाश की मात्रा-वृद्धि दिखलाई गई हैं।

\+ + + +

ये प्रश्नोत्तर अभी समाप्त होने नहीं पाये थे, कि अचानक एक व्यक्ति ने बड़े मधुर स्वर से भक्ति के भाव में डूब कर शुरू किया। आत्मवेत्ता सहित सभी संघ में उपस्थित सज्जनों का ध्यान उधर चला गया और सभी चित्त लगा कर उसका गाना सुनने लगे—

जीवन ! बन तू फूल समान

पर उपकार सुरभि से सुरभित सन्तत हो सुखदान। जीवन०
स्वच्छ हृदय तो खिलजा प्यारे ! तू भी परम प्रेम को धारे।
सुखदाई हो सबका जगमें पा सबसे सम्मान ॥ जीवन बन०॥
कठिन कण्टकों के घेरे में, दारुण दुःखदायी फेरे में।

* वेदान्त ३।१।२३ में कहा गया है कि आकाशादि से चिरकाल तक सम्बन्ध मानना ठीक नहीं है।

पड़ कर विचलित कहीं न होना बनना नहीं अजान ॥ जीवन०
शत्रु मित्र दोनों का हित हो, पावन यह तेरा शुभ व्रत हो।
मधु दाता बन सब का प्यारा, तज कर भेद विधान ॥ जीवन०
दे तू सुरभि* टूटने पर भी, पैरों तले टूटने पर भी।
इस विधि से प्रभु की माला में, पा ले प्रिय स्थान ॥
जीवन! बन तू फूल समान ॥ *

भजन सुन कर प्रत्येक व्यक्ति अपनी अवस्था पर विचार करने लगा और गम्भीरता के साथ प्रभु से याचना करने लगा कि उसकी अवस्था का सुधार हो। ऋषि आत्मवेत्ता के चेतावनी देने पर फिर संघ का कार्य्य प्रारम्भ हुआ, और एक देवी ने नम्रता के साथ एक प्रश्न किया:—

"दूसरी गति का एक और विवरण"

वसन्तोदेवी—कहा यह जाता है, कि मनुष्य जब यहां मरता है, तो मृत्यु के साथ उसके दो शरीर (१) स्थूल शरीर (Dense body) (२) आकाशीय छाया शरीर (Ethereal Double) यहीं नष्ट हो जाते हैं अर्थात् मरने पर उससे तीन क्षुद्र द्रव्य (Lower principles) (१) शरीर (२) जीवन का साधन रूप आकाशीय छाया शरीर हमेशा के लिये पृथक् हो जाते हैं। मर कर वह काम लोक में पहुँचता है। कामलोक में उसके पास केवल एक शरीर, जिसे इच्छा (Shell-Desire body or Body of Astral) कहते हैं, रहता है। और प्रथम के ३ क्षुद्र द्रव्य नष्ट हो कर इस नये लोक में इस शरीर के साथ बाकी चार

* सुगन्धि।

उच्च द्रव्य कामरूप (Body of kama), आत्मा, बुद्धि, और मन रहा करते हैं। कामलोक से पृथक् होने पर (इस पृथक्ता का नाम द्वितीय मृत्यु (2nd Death) है वह देवायतन (Abode of Gods or the land of Bliss) में पहुँच जाता है। जब प्राणी कामलोक को छोड़ता है, तो एक सुनहरी पुल, जो सात सुनहरी पर्वतों के मध्य में पड़ता है (Golden bridge leading to the seven golden mountains—पार करना होता है; द्वितीय मृत्यु के बाद, देवायतन में पहुँचने से पूर्व अचेतन अवस्था (Pre-devachanic unconsciousness) होती है, परन्तु देवायतन में पहुँचने पर उसे चेतना प्राप्त हो जाती है, और इस प्रकार देवायतन, मानो चेतनावस्था (State of consciousness है। जब वे कारण जो प्राणी को देवाचन में ले गये थे, समाप्त हो जाते हैं, तब जीव को फिर प्राकृतिक स्थूल जगत् में आने की इच्छा प्राप्त होने लगती है, और इस इच्छा के उत्पन्न होने पर उसे फिर इस संसार में जन्म लेकर अपनी पुरानी जन्म वासनाओं से, जो यहीं पहले जन्म में उत्पन्न होकर, उसके कामलोक में जाने पर, नष्ट न होकर, तिरोहित अवस्था में रहती हैं, भेंट करनी पड़ती है।

आत्मवेत्ता—पृथक् पृथक् व्यक्तियों की वर्णन-शैली पृथक् पृथक् हुआ करती है। यह जो कुछ देवी! तुमने सुनाया, इसमें कुछ तो उपनिषदों का तथ्य है और कुछ साम्प्रदायिकवाद।

सुनहरी पुल से गुज़रना आदि तो साम्प्रदायिक वाद हैं। परन्तु देवायतन से लौटने का अभिप्राय चन्द्रलोक से लौटने का है। और पुरानी पापवासना का तात्पर्य उन्हीं वासनाओं से है, जो सकाम कर्म से उत्पन्न हुआ करती हैं और प्राणी को पुनः आवागमन के चक्र में लाने का कारण बनती हैं। ये उपनिषदों का तथ्य (सचाई) है: और इस प्रकार देखने से इस वर्णन और जो कुछ हमने सुनाया उसमें अधिक अन्तर नहीं है। और परिणाम दोनों का निश्चित रीति से कहा जा सकता है, कि एक ही है।

इतना उपदेश देने के बाद आज का संघ समाप्त हुआ, और संघ की समाप्ति के साथ ही मरने के बाद दूसरी गति की कथा भी समाप्त हुई।

—:o:—

"चौथा परिच्छेद"

छठा संघ

"मरने के बाद की तीसरी गति"

संघ संगठित है-शान्ति का वायु प्रवाहित है-सुन्दर सुहावने और सुगन्धित पुष्पों की भीनी भीनी महक वाटिका में आरही है-आत्मवेत्ता ऋषि की तपोभूमि में पग धरते ही हृदय आस्तिकता के भावों से पूरित हो उठता है-ईश्वर के आह्लादमद प्रेम से चित्त आह्लादित हो जाता है-इस प्रकार के वातावरण में बैठे हुये अनेक नरनारी मृत्यु की अन्तिम समस्या का हाल सुनने को

उत्सुक हो रहे हैं। आत्मवेत्ता के आने और व्यास गद्दी पर आसीन होने पर सबके मुखड़े प्रसन्नता के साथ खिल उठते हैं। हृदय को शान्ति देने वाली वाणी से ऋषि ने अपना शिक्षा-प्रद उपदेश आरम्भ किया—

"मरने के बाद तीसरी गति"

आत्मवेत्ता— मरने के बाद की दो गतियों का आप हाल सुन चुके हैं। आज तीसरी और अन्तिम गति की बात कहनी है। जो पुरुष निष्कामप्रिय हैं और निष्काम कर्म करना ही जिन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना रक्खा है, और जो श्रद्धामय और तपस्वी जीवन व्यतीत करते हैं, ऐसे पुरुष जीवनकाल ही में जीवनमुक्त कहलाते हैं और जब मरते हैं, तब आवागमन (मृत्यु) के बन्धन से छूट कर मुक्त हो जाते हैं-वे मर कर किस क्रम से ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, उसका विवरण इस प्रकार है:——

उसका क्रमः—

[१] प्रथम वे आर्चिषी* दशा को प्राप्त करते हैं।
[२] आर्चिषी दशा से आन्तिकी (दिन की) दशा को।
[३] उससे पाक्षिकी (शुक्ल पक्ष की) दशा को।
[४] उससे उत्तरायणी† षाण्मासिकी दशा को।
[५] उससे सम्वत्सरी (पूरे वर्ष की) दशा को।
[६] उससे सौरी (सूर्य्य समान) दशा को।
[७] उससे चान्द्रमसी दशा को।

* आर्चि = अग्नि की ज्वाला, झपट।

† जिन छः मासों में सूर्य्य उत्तर की ओर रहता है।

[८] उससे वैद्युती (बिजली के समान) दशा को।

[९] उससे ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं।

इस अवस्था को प्राप्त कर लेना मनुष्य के जीवनोद्देश्य की चरम सीमा और मनुष्य की अन्तिम गति है।

ये अवस्थायें भी क्रमशः प्रकाश की वृद्धि को प्रकट करती हैं। वैद्युती दशा को प्राप्त करने के बाद मनुष्य उस ज्योति को प्राप्त कर लेता है, जिस ज्योति को अलौकिक और विकार रहित ज्योतिः* कहा जाता है और जिस ज्योतिमय अवस्था के लिये कहा जाता है कि वहां अग्नि, विद्युत्, चन्द्रमा, तारे सूर्य्य का प्रकाश नहीं पहुँच सकता†। संसार के जितने भी उत्तम से उत्तम प्रकाश हैं, उनमें से किसी को भी उस दिव्य और अलौकिक ज्योति की उपमा नहीं दी जा सकती। इतना कह कर ऋषि चुप हो गये। आत्मवेत्ता ऋषि के इस उपदेश के सुनने से संघ में उपस्थित प्रायः सभी नर नारियों के मुखड़ों से छाया हुआ गम्भीरता का भाव प्रदर्शित होने लगा मानों उनमें से प्रत्येक इसी अवस्था को प्राप्त करने का उत्सुक है। कुछ देर तक सन्नाटा-सा छाया रहा और जो जहां था, गति-शून्य-सा दिखाई देता था, मानो कोई टस से मस ही नहीं होना चाहता है। यह दशा बहुत देर तक नहीं रही। अन्त को मौन मुद्रा टूटी और उपदेश के सम्बन्ध में अनेक शंकाओं के समाधान करने की इच्छा जागृत हुई और इस प्रकार संघ में से एक व्यक्ति बोलाः—

* "ज्योतिरिवाधूमकः"—(कठोपनिषद् ४ । १३)।

† मुण्डकोपनिषद् २ । २ । १० ।

उमाकान्त--यदि यह अवस्थायें क्रमशः प्रकाश वृद्धि ही प्रकट करती हैं, तो सौरी दशा के बाद चान्द्रमसी दशा क्यों है? सूर्य्य का प्रकाश तो चन्द्रमा से अधिक ही होता है ?

"सौरी और चान्द्रमसी दशाओं का भेद"

आत्मवेत्ता—बेशक! सूर्य्य का प्रकाश चन्द्रमा से अधिक होता है, परन्तु दोनों के प्रकाशों में प्रकार का भेद है। सूर्य्य का प्रकाश उष्णता पूर्ण होता है, परन्तु चन्द्रमा के प्रकाश में शीतलता होती है। उष्णता उद्विग्नता (अशान्ति) का और शीतलता शान्ति) का द्योतक है, इसी लिये चन्द्रमा* सुख प्रद समझा जाता है। अतः स्पष्ट है कि चन्द्र का प्रकाश सूर्य्य के प्रकाश से गुण की दृष्टि से अच्छा समझा जाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ चान्द्रमसी शब्द नक्षत्र विशेष से सम्बन्धित अवस्था प्रकट नहीं करता, किन्तु उस प्रकाश का प्रकाश है, जो सूर्य्य के प्रकाश से अच्छा हो। इसी प्रकार इससे भी अच्छे प्रकाश का द्योतक वैद्युती अवस्था है।

चन्द्रकान्ता—ब्रह्मलोक क्या किसी स्थान विशेष का नाम है, जो मुक्त जीवों के निवास का स्थान समझा जाता है?

"ब्रह्मलोक क्या है?"

आत्मवेत्ता—ब्रह्मलोक किसी स्थान विशेष का नाम नहीं है। मुक्त जीव ही किसी एक स्थान विशेष पर एकत्रित

* चिदाह्लादे धातु से "चन्द्र" शब्द सिद्ध होता है—इसीलिये चन्द्रमा आह्लादप्रद माना जाता है।

निवास करते हैं। ब्रह्मलोक का भाव यह है, कि प्राणी उस अवस्था को प्राप्त कर लेवे, जिसमें उसकी अत्यन्त समीपता और प्रकृति से निवृत्ति होती है, ब्रह्म की समीपता का भाव आनन्द की प्राप्ति और प्रकृति से निवृत्ति का तात्पर्य दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति से है। इस अवस्था को प्राप्त जीव पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं। किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता और इच्छानुसार जहां चाहें विचरते हैं।

"क्या मुक्त जीव भी शरीर रखते हैं?"

चन्द्रकान्ता—क्या ये जीव सूक्ष्म और कारण शरीर भी नहीं रखते। स्थूल शरीर तो आवागमन के बन्धन से रहित होने पर रह ही नहीं सकता

आत्मवेत्ता—नहीं! मुक्त जीव किसी प्रकार का शरीर नहीं रखते, विशुद्ध मुक्तात्मा प्रत्येक प्रकार के मल और विकारों से रहित हो जाता है; इसीलिये प्राकृतिक बन्धन उसे पीड़ित नहीं कर सकते।

"मुक्त जीव के साथ क्या जाता है?"

विद्याभूषण—तो क्या इसका मतलब यह है कि मुक्त जीव के साथ कुछ नहीं जाता।

आत्मवेत्ता—नहीं-मुक्त जीव के साथ उसके किये हुये निष्काम कर्म और उपार्जित विज्ञान जाते हैं—इनके सिवाय और कुछ नहीं जाता[1]। इन्हीं कर्म और विज्ञान के योग का नाम "धर्म" है।

१—[क] मुण्डकोपनिषद् में कहा है:—

गताः कलाः पञ्च दश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्वे एकी भवन्ति॥ मु० ३।२।७।

"मुक्ति का कारण"

उपमन्यु—मुक्ति ज्ञान का फल है या कर्म का?

आत्मवेत्ता—न केवल ज्ञान का और न केवल कर्म का किन्तु ज्ञान और कर्म्म के समुच्चय का फल मुक्ति है ‡ कर्म की उपेक्षा करके केवल ज्ञान का आश्रय लेना या ज्ञान की उपेक्षा करके केवल कर्म का सहारा ढूंढना दोनों मनुष्यों को अन्धकार में ले जाने वाले हैं।+

उपमन्यु—यदि मुक्ति ज्ञान और कर्म के समुच्चय का फल है, तो नित्य नहीं हो सकती-इसीलिये नित्य मुक्ति को मानने की इच्छा से अनेक आचार्य मुक्ति को केवल ज्ञान का फल मानते हैं और वे कर्म को अविद्या कह कर त्याज्य समझते हैं।

"मुक्ति से लौटना"

अर्थात् जीवन मुक्त प्राणी जब शरीर छोड़ता है; तब उसकी १५ कलायें जिनसे तीनों प्रकार के शरीर बनते हैं, अपने कारण में, और सम्पूर्ण इन्द्रियां भी अपने २ कारणों में लीन हो जाते हैं—इस प्रकार जब एक मात्र विशुद्ध आत्मा रह जाता है, तब बतलाते हैं कि वह आत्मा कर्म और विज्ञान के साथ पर अव्यय ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

[ग] वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि शरीर छोड़ने वाले के साथ—

"तं विद्याकर्मणि समन्वारभेते पूर्व प्रज्ञाञ्च"—विद्या [ज्ञान] कर्म और पूर्व प्रज्ञा [बुद्धि—ज्ञान] जाते हैं। [देखो वृ० ४। ४। २]

[‡] विद्या चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभय ᳫं सह।

+ अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ [ईशोपनिषद् मंत्र ११]

अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों को जो प्राणी साथ २ काम में लाता है, वह कर्म से मृत्यु को पार करके, ज्ञान से अमरत्व को प्राप्त करता है—

[३] देखो ईशोपनिषद मन्त्र ६।

आत्मवेत्ता--मुक्ति केवल ज्ञान का फल नहीं है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है-वेद उपनिषद् और गीता आदि सभी सत् शास्त्र मुक्ति का कारण ज्ञान के साथ कर्म को भी समझते हैं। गीता के एक प्रश्नोत्तर का विवरण सुनाते हैं--

अर्जुन--हे जनार्दन! यदि आपके मत में कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है, तो मुझे क्यों घोर कर्म (युद्ध) में लगाते हो, आपके

"कृष्णार्जुन सम्वाद

रिले मिले-वाक्यों से तो मेरी बुद्धि और मोह (भ्रम) में पड़ती है-निश्चय के साथ वह एक बात कहो, जिससे मेरा कल्याण हो।

कृष्ण--संसार में दो प्रकार की श्रद्धा है-(१) सांख्याचार्यों की ज्ञान योग से उत्पन्न और (२) योगियों की कर्म योग से-न तो कर्मों के करने ही से कोई नैष्कर्म्य के फल को पाता है और न त्याग से ही सिद्धि प्राप्त होती है-क्योंकि कभी क्षणभर भी कर्म न करता हुआ नहीं रह सकता है। प्रकृति के गुणों (सत्व रजस् तमस्) से विवश होकर सबको कर्म करने पड़ते हैं-जो कोई मूढ़ पुरुष कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषय का ध्यान करता है, वह मिथ्या आचार वाला होता है। हां; जो आसक्ति रहित मनुष्य मन से इन्द्रियों को वश में करके कर्मेन्द्रियों से कर्म योग का अनुष्ठान भी करता है, वह विशेषता वाला होता है। अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है इसलिये नियत कर्म कर-क्योंकि विना कर्म तो तेरी देह-यात्रा भी सिद्ध न होगी-प्रजापति ने, प्रारम्भ में यज्ञों

सहित प्रजाओं को उत्पन्न करके, उनको उपदेश दिया कि इस यज्ञ से सब कुछ उत्पन्न कर लो, यह तुम्हारी मनोवांछित कामनाओं का पूर्ण करने वाला होगा। इस यज्ञ से तुम यज्ञ सम्बन्धी अग्नि वायु आदि देवों को प्रसन्न करो, वे देव तुमको प्रसन्न करेंगे।

इस प्रकार एक दूसरे को प्रसन्न करने ही से कल्याण हो सकता है। यज्ञ न करके जो मनुष्य देवों का भाग, उन्हें दिये बिना, यज्ञ से उत्पन्न भोगों को भोगता है, वह चोर है। यज्ञ करके, यज्ञ शेष का भोजन करने से मनुष्य पापों से छूटता है परन्तु वे मनुष्य जो केवल अपने लिये ही भोजन बनाते हैं, वे भोजन नहीं अपितु पाप ही को खाते हैं। अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न बादलों से [वर्षा द्वारा] पैदा होता है और यज्ञ से बादल बनते हैं, यज्ञ कर्म से होता है, कर्म वेद से उत्पन्न होते हैं और वेद अविनाशी ब्रह्म से प्रकट होते हैं। इस प्रकार सर्व व्यापक ईश्वर यज्ञ में प्रतिष्ठित है। जो प्राणी ईश्वर के चलाये हुये इस चक्र के अनुकूल व्यवहार नहीं करता, वह पापी और इन्द्रियों का दास है, उसका संसार में जीना व्यर्थ ही है। इसलिये तू कर्म में लिप्त हुये बिना, निरन्तर पुरुषार्थ कर। इस प्रकार कर्म-जन्य वासना में लिप्त हुये बिना, जो मनुष्य कर्म करता है, वह परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है जनकादि ने कर्म ही से सिद्धि प्राप्त की थी। लोक संग्रह पर ध्यान देते हुए भी तुझको कर्म करना चाहिये।

[१] यह कृष्णार्जुन सम्वाद गीता के तृतीयाध्याय में अंकित है।
[देखो श्लोक १ से २० तक]

आत्मवेत्ता—इस उत्तर से स्वयं योगिराज कृष्ण ने स्पष्ट रीति से कर्म को ईश्वर प्राप्ति का साधन बतलाया है और जनकादि का उदाहरण भी दिया है। ऐसी अवस्था में जो कर्म की उपेक्षा करके केवल ज्ञान का आश्रय लेते हैं, वे उपनिषद्, वेदों के सिवा कृष्ण महाराज की शिक्षा का भी निरादर करते हैं और इसलिये ऐसे व्यक्तियों की बात ध्यान देने योग्य नहीं है। कर्म से जगत् बना तथा स्थित है और सारे काम जगत् के कर्म ही से चल रहे हैं। कर्म का निरादर करके तो कोई मनुष्य, जैसा कृष्ण ने भी उपर्युक्त उत्तर में कहा है, अपना जीवन भी स्थिर नहीं रख सकता।

"पुरुषार्थ और प्रारब्ध"

सत्यकाम—जगत् में मनुष्यों का काम तो उनकी प्रारब्ध से चला करता है, फिर कृष्ण महाराज ने यह कैसे कहा कि मनुष्य बिना पुरुषार्थ के अपना जीवन भी स्थित नहीं रख सकता?

आत्मवेत्ता—पुरुषार्थ और प्रारब्ध का झगड़ा अधिकतर मनुष्यों की अज्ञता पर निर्भर है।

"कर्म की अवस्थायें"

कर्म की तीन अवस्थायें हैं (१) जब मनुष्य कर्म करता है, तब कर्म की पहिली अवस्था होती है, उस में कर्म को "क्रियमान" कहते हैं। (२) जब कर्म के करने की, क्रियमान अवस्था समाप्त हो जाती है, तब कर्म की दूसरी अवस्था होती है और उसमें उसका नाम "संचित" होता है। (३) जब संचित कर्मों का फल मिलने

लगता है, तब कर्म की तीसरी अवस्था होती है और उस अवस्था में कर्म का नाम "प्रारब्ध" हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि प्रारब्ध कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, किन्तु किये हुये कर्मों की ही एक अवस्था है, यदि मनुष्य पुरुषार्थ न करे, तो प्रारब्ध बन नहीं सकती।

क्रियापटु—क्या हृदय की शुद्धि केवल ज्ञान से नहीं हो सकती? क्या हृदय की शुद्धि के लिये भी कर्म की आवश्यकता है?

"ईश्वर प्राप्ति के अर्थ एक यज्ञ और एक प्रार्थना"

आत्मवेत्ता—हां! हृदय की शुद्धि भी बिना कर्म के नहीं हो सकती। इसलिये उपनिषद् में एक क्रिया का विधान है, जो यज्ञ और उसकी बाद की प्रार्थना से पूरी होती है। उसका विवरण इस प्रकार है। इससे साफ़ ज़ाहिर हो जायगा कि क्रियाकलाप के बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती और शुद्धि न होने से बुद्धि कलुषित हो महत्ता प्राप्त करने में असमर्थ हो जाती है।

महत्वाकांक्षी अमावस्या को यज्ञ करने की दीक्षा लेकर १५ दिन तक यम, नियम का पालन करते हुये प्रणव और गायत्री मन्त्र का जप करे। पूर्णिमा की रात्री में नियत औषधियों* के मन्थ [रस] को दही और शहद मिला कर एक पात्र में रक्खे

---

(१) नीति में कहा है:—

पूर्वजन्मकृत कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।
तस्मात् पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रित.॥ (पंचतंत्र)

अर्थात् पूर्व किये कर्मों ही का नाम दैव (प्रारब्ध या तकदीर) होता है। इस लिये मनुष्य को यत्न पूर्वक पुरुषार्थ करना चाहिये।

और इस प्रकार घृत की आहुति अग्नि में देकर स्रुवे में बची हुई घृत की बूंदों को उसी औषधि के सार वाले पात्र में डालता जावे। आहुति इन वाक्यों से देवें:—

[१] ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा।
[२] वशिष्ठाय स्वाहा।
[३] प्रतिष्ठाय स्वाहा।
[४] सम्पदे स्वाहा।
[५] आयतनाय स्वाहा।

इसके बाद अग्नि-कुण्ड से हट कर अञ्जलि में घृत की बूंद मिश्रित उस मन्थ को लेकर इस प्रकार मानसिक प्रार्थना करे:—

"प्रार्थना की विधि"

"भगवन्! आप अमा† नाम वाले हैं, जगत् का आधिपत्य रखने के लिये आप में अमा (शक्ति) है आप ज्येष्ठ श्रेष्ठ और सर्वाधिपति हैं, आप कृपा करके मुझे भी ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और अधिपति बनावें।" इस प्रार्थना के बाद निम्न प्रकार आचमन करे:—

* अनेक औषधियां हैं, जिनके प्रयोग से चित्त शान्त होता है; उन्हीं का यहां संकेत किया गया है।

† गमन शील होने से ब्रह्माण्ड का नाम "अ" है—"म" के अर्थ नापने या निर्माण करने के हैं। ईश्वर ब्रह्माण्ड का निर्माता है, इस लिये उसका नाम "अम्" है, उसकी शक्ति "अमा" कहलाती है।

"तत्सवितुर्वृणीमहे" इससे एक आचमन।
"वयं देवस्य भोजनम्" इससे दूसरा आचमन।
"श्रेष्ठं सर्वधातमम्" इससे तीसरा आचमन।
"तुरं भगस्य धीमहि" इससे बाकी सब पी लेवे।

जिस पात्र में आचमन किया है, उसे शुद्ध करके और कुण्ड के पश्चिम भाग में बैठ कर मौनावलम्बी सर्व प्रकार की इच्छाओं से हृदय शून्य रखते हुये ईश्वर के ध्यान में लीन हो जावे। यदि यह लवलीनता पूरी हो जावे और आत्मा मातृ-रूपा ब्रह्म की "अमा" (शक्ति और विभूति) का अनुभव करने लगे, तो कर्म को सफल समझे। *इस प्रकार यह तथा अन्य अनेक क्रियायें उपनिषद् और योग आदि शास्त्रों में हृदय की शुद्धि के लिये बताई गई हैं और साफ़ कह दिया गया है कि जल से शरीर, सत्याचरण से मन, विद्या और तप से आत्मा और ज्ञान से बुद्धि शुद्ध हुआ करती है। †

"मुक्ति की अवधि और उसके भेद"

सत्ययज्ञ—मुक्ति कर्म और ज्ञान के समुच्चय का फल होने से अनित्य है, अनित्य होने से सावधि हुई तो फिर उसकी अवधि क्या है? और सब मुक्त जीवों की अवधि एक ही है या इसमें कुछ विभिन्नता है?

* छांदोग्य उपनिषद् प्रपाठक ५ खण्ड २ प्रवाक ४—८।

† देखो मनुस्मृति अध्याय ५ श्लोक १०:—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥

आत्मवेत्ता—मुक्ति में प्रवेश करने वाले जीव पांच श्रेणियों में विभक्त हैं उनका विवरण इस प्रकार है:—

सं० मुमुक्षुओं के पद	मुक्ति की मात्रा	वर्ष विवरण	साधन
१ वसु	२२५० वर्ष* अहरात्र या ६½ ब्रह्म वर्ष	१ नील ९४ खर्व ४० अर्व वर्ष	ऋग्वेद
२ रुद्र	४५०० वर्ष या १२½ ब्रह्मवर्ष	३ नील ८८ खर्व ८० अर्व	ऋग्वेद × यजुर्वेद
३ आदित्य	९००० वर्ष या २५ ब्रह्म वर्ष	७नील७७खर्व ६७ अर्व	ऋग्वेद + यजुर्वेद तथा सामवेद
४ मरुत	१८००० वर्ष या ·० ब्रह्म वर्ष	१५ नील ५५ खर्व २० अर्व	चारों वेद
५ साध्य	३६००० वर्ष या १०० ब्रह्म वर्ष एक परान्तकाल)	३१ नील १० खर्व ४० अर्व	चारों वेदों के गुह्य-आदेश†

"मुक्ति के भेदों का कारण"

प्राचीन शास्त्र—मुक्ति के इन भेदों का कारण क्या है?

---

* ४३ लाख २० हज़ार वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। २ हज़ार चतुर्युगी का एक अहोरात्र अर्थात् एक सृष्टि और एक महाप्रलय।

३० अहोरात्र का एक ब्रह्ममास और ऐसे १२ ब्रह्ममासों का १ ब्रह्म वर्ष और ऐसे १०० ब्रह्म वर्षों का एक परान्त काल होता है।

† देखो छान्दोग्य उपनिषद् में मधु वाच्य ब्रह्मोपासना, जिस प्रकरण का नाम ब्रह्मोपनिषद् है। (छान्दोग्य प्रपाठक ३ खण्ड ६ से १० तक

आत्मवेत्ता—कारण का संकेत तो साधन के नाम से पहिले उत्तर में कर दिया गया है। एक व्यक्ति ने जिसने केवल एक वेद का ज्ञान प्राप्त किया और उसी प्राप्त ज्ञान के अनुकूल आचरण किया, उससे उसके ज्ञान और कर्म अधिक है, जिसने दो वेदों का अध्ययन किया है। इसी प्रकार बराबर उत्तरोत्तर प्रत्येक श्रेणी में कर्म और ज्ञान की मात्रा अधिक होती गई है, इसी कर्म और ज्ञान के मात्रा-भेद से मुक्ति मात्रा में भी भेद होते हैं।

प्राचीन शाल—तो जिन व्यक्तियों के ज्ञान और कर्म मात्रा में कम थे, उनकी मुक्ति ही क्यों होती है?

आत्मवेत्ता—यह बात पहिले कही जा चुकी है कि जब मनुष्य सकाम कर्म, जो वासना—उत्पादक होते हैं, छोड़ कर केवल निष्काम कर्म करने लगता है, तो उससे न केवल आइन्दा वासना नहीं बनती, किन्तु पिछली बनी हुईं वासनायें भी नष्ट हो जाती हैं और जन्म मरण का कारण वासना ही है। इसलिये उपासक ज्ञान प्राप्ति के किसी दर्जे में भी क्यों न हो, जिस समय भी निष्कामता के प्रभाव से उसका चित्त वासना रहित हो जायगा, वह आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर मुक्त हो जायगा। ऐसी अवस्था में ज्ञान और कर्म से समुच्चय के भेद से उसका फल रूप मुक्ति भी भेद वाली हो जाती है और यही भेद उपनिषद् में दिखलाया गया है।

तपोनिधि—ऊपर मुक्ति के साधनों में से प्रत्येक साधन में एक न एक वेद का अध्ययन मुक्ति के प्राप्त करने के लिये आवश्यक दिखलाया गया है, क्या इनका मतलब यह है कि जिन्होंने वेद नहीं पढ़े हैं, उनकी मुक्ति ही नहीं हो सकती?

"क्या मुक्ति के लिये वेदाध्ययन आवश्यक है?"

आत्मवेत्ता—मुक्ति के लिये वेद का अध्ययन आवश्यक नहीं परन्तु वेद प्रतिपादित मुक्ति के साधनों का ज्ञान आवश्यक और अनिवार्य है। यह ज्ञान चाहे स्वयं वेद पढ़ कर प्राप्त किया जावे या वेदानुकूल ग्रन्थों के अध्ययन से उपलब्ध किया जावे। चाहे किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ से प्राप्त कर लिया जावे। वेद का ज्ञान प्राचीन ऋषियों की प्रचारसंलग्नता (Missionary spirit) के कारण जगत भर में फैल चुका था और अब भी फैला हुआ है जहां कहीं भी मुक्ति के साधन, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निर्लोभता, शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वर-भक्ति आदि गुणों को देखो, तो समझ लो कि इनका आदि स्रोत वेद है और ये सब वेदोक्त ज्ञान ही है। इन गुणों का, यह समझे विना भी कि ये वेद ज्ञान है, यदि कोई पालन करता है तो वह भी अवश्य मुक्ति का अधिकारी हो सकता है, चाहे वह किसी देश, जाति, रंग या मत में पैदा हुआ है।

सत्यव्रत—मृत्यु के बाद की दूसरी गति में सूर्य्य के दक्षिणायन और तीसरी गति में उत्तरायण की बात कही गई है। क्या इसका भाव यह है कि सूर्य्य के उत्तरायण होने की दशा ही में मरने से मुक्ति हो सकती है? अन्य अवस्था में नहीं।

आत्मवेत्ता—किसी अवस्था में भी साधन सम्पन्न प्राणी की मृत्यु हो, मोक्ष का अधिकारी होने पर उसकी मोक्ष हो जायगी। दिन रात, पक्ष, षण्मासादि समय के किन्हीं विभागों में कोई न्यूनता या विशेषता नहीं। *

---

* "अतश्चायनेऽपि दक्षिणे" (वेदान्त दर्शन ४।२।२०)
अर्थात् दक्षिण मार्गगत मृत्यु उपासक के मुक्ति रूप फल में भी कोई बाधा नहीं है।

सत्यव्रत—सात लोक जो कहे जाते हैं, वे कौन २ से हैं, उनका भाव क्या है? इन्हीं लोकों में एक ब्रह्मलोक कहा जाता है, जिसकी कुछ बात पहिले हो चुकी है।

"ब्रह्म लोक"

आत्मवेत्ता—३३ देवताओं की गणना में आठ वसु हैं। वसु उन स्थानों का नाम है, जहां प्राणी बस सकते हैं, इन्हीं आठ वसुओं को ६ लोकों में विभक्त कर दिया है। उसका विवरण इस प्रकार है:——

८ वसु	६ लोक
[१] अग्नि	१-पृथ्वी
[२] पृथ्वी	२-वायु
[३] वायु	३-अन्तरिक्ष
[४] अन्तरिक्ष	४-आदित्य =(१, ५, तीनों के स्थान में)
[५] आदित्य	५-चन्द्रमा
[६] द्यौः	६-नक्षत्र
[७] चन्द्रमा	७-ब्रह्म लोक
[८] नक्षत्र	

इनमें उपर्युक्त भांति आठ वसुओं के स्थान में १ से ६ तक लोक हैं और सातवां लोक ब्रह्म लोक है जो वसुओं से बाहिर है, प्राणी इन्हीं सात लोकों में से किसी न किसी लोक में रहता है। जब तक कि जीव आवागमन के बन्धन से नहीं छूटता, तब तक उसे इन्हीं १ से ६ तक के लोकों में रहना पड़ता

है, परन्तु इस बन्धन से छूट कर ब्रह्म को प्राप्त करके ब्रह्मलोक वासी बन जाता है। यह कहा जा चुका है कि ब्रह्म विभु होने से सर्वदेशी है; इसलिये उसका कोई स्थान विशेष नहीं, इसलिये ब्रह्म लोक भी किसी स्थान विशेष का नाम नहीं है। ब्रह्म लोक प्राप्त करके जीवात्मा जब ब्रह्मानन्द का अनुभव करने लगता है, उसको ब्रह्मलोक प्राप्त हुआ समझा जाने लगता है। इन्हीं सप्त लोकों के नाम एक और प्रकार से भी लिये जाते हैं और वे इस प्रकार हैं:—

सप्त लोक।

(१) पृथ्वी = भूः
(२) अन्तरिक्ष = भुवः
(३) चन्द्रमा = स्वः
(४) वायु = महः
(५) नक्षत्र = जनः
(६) आदित्य = तपः
(७) ब्रह्म = सत्यम्

सत्यव्रत—इनमें नरक लोक का नाम कहीं नहीं आया ?

आत्मवेत्ता—जितनी भी भोग योनियां हैं, सब नरक ही हैं—इनके सिवा नरक किसी स्थान विशेष का नाम नहीं है।

रत्नमणि—"देवयान" और "पितृयान" क्या हैं ?

आत्मवेत्ता—मृत्यु के बाद दूसरी गति प्राप्त प्राणियों के मार्ग का नाम "पितृयान" और तृतीय गति प्राप्त जीवों के मार्ग का नाम "देवयान" कहलाता है। ये कोई इस प्रकार के मार्ग नहीं हैं, जिन्हें हम मार्ग शब्द से पृथ्वी पर समझते हैं, परन्तु जीवों में क्रमशः प्रकाश की वृद्धि के जो दरजे होते हैं, उसी विकास क्रम का नाम "पितृयान" और "देवयान" है।

"क्या जीव १२ दिनके बाद जन्म लेता है"

तत्त्वदर्शी—क्या यह ठीक है कि मनुष्य मरने पर १२ दिन* के बाद जन्म लेता है?

---

* १२ दिन के बाद पैदा होने का विचार भ्रमात्मक है, और एक वेद मंत्र के ठीक न समझने के कारण कदाचित् उत्पन्न हुआ है। मंत्र इस प्रकार है:—

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीये आदित्यश्चतुर्थे।
चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे॥
मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वे देवा द्वादशे॥
(यजुर्वेद अध्याय ३९ मंत्र ६)

यह मंत्र तृतीय गति प्राप्त प्राणियों के मार्ग (देवयान) का क्रम बतलाता है। छान्दोग्योपनिषद् और इस वेद मंत्र में वर्णित "देवयान" का क्रम प्रायः मिलते जुलते हैं, बहुत थोड़ा सा अन्तर है, जिससे किसी मौलिक सिद्धांत में भेद नहीं आता। दोनों कथनों के तुलनार्थ दोनों स्थानों के मार्ग का विवरण यहां दिया जाता है:—

उपनिषदानुसार	वेदानुसार
—आर्चिषी दशा	१—सविता
आन्तिकी दशा	२—अहन्नग्निः

आत्मवेत्ता—यह कहा जा चुका है कि पहली गति

३—पाची दशा	३—वायु
४—औत्तरायणी दशा (पाण्मासिकी)	४—आदित्य
५—सांवत्सरी	५—चन्द्रमा + ऋतु
६—सौरी	६—मरुतः + बृहस्पति + मित्रः
७—चान्द्रमसी	७—वरुण
८—वैद्युती	८—इन्द्र
९—ब्रह्मलोक	९—विश्वेदेवा

नोट—(१) सविता सूर्य्य प्रकाश को कहते हैं, यही भाव आर्चिषी दशा का है। (२) अहन्नग्निः अर्थात् अग्नि रूप दिन या दिन रूप अग्नि, किसी प्रकार समझ लिया जावे अग्नि के अर्थ प्रकाश के हैं। भाव अहन्नग्नि का दिन का प्रकाश है, और यह आन्तिकी अवस्था का पर्य्याय वाची हैं। (३) वायु—तीसरी पाची दशा का भाव यह है कि जिसमें दिन की अपेक्षा प्रकाश अधिक है, वायवीय अवस्था में भी आन्तिकी दशा से अधिक प्रकाश होता है, वायु सखा अग्नि को इसीलिये कहते भी हैं। (४) आदित्य महीने को कहते हैं इसलिये चौथी पाण्मासिकी दशा की जगह आदित्य का प्रयोग समानार्थक ही समझा जा सकता है। (५) चन्द्रमा के नाम से चन्द्र वर्ष सिद्ध ही है और प्रयोग में भी आता है, इसलिये चन्द्रमा का साम्वत्सरी स्थानी होना ठीक ही हैं। ऋतु वर्ष का भाग होने से वर्षान्तर्गत आ जाते हैं, इसलिये चन्द्रमा + ऋतु दोनों ५ वीं सांवत्सरी अवस्था के लिये वेद में प्रयुक्त हैं। (६) मित्रः सूर्य्य को कहते हैं, बृहस्पति नाम सूत्रात्मा वायु का है और मरुत भी वायु ही को कहते हैं—इसलिये बृहस्पति और मरुत दोनों सूर्य्य से सम्बन्धित वायु होने से सूर्य्य के अन्तर्गत ही हैं। इसीलिये वेद में "मित्र + बृहस्पति + मरुत" ये तीनों शब्द छटी सौरी दशा के लिये आये हैं। (७) वरुण जल वाची होने से चन्द्रमा से सम्बधित है, इसलिये सातवीं चान्द्रमसी दशा के लिये वेद में वरुण शब्द प्रयुक्त है। (८)

प्राप्त प्राणी मरने के बाद तत्काल जन्म ले लेते हैं और यही बात ठीक है। १२ दिन के बाद जन्म लेने की बात ठीक नहीं है।

सत्यवादी—क्या "देवयान" का कुछ सम्बन्ध सप्त लोकों से है। या "देवयान" इनसे कोई स्वतन्त्र मार्ग है।

आत्मवेत्ता—सप्त लोकों में से ६ लोक तो स्थानपरक हैं, परन्तु "देवयान" के प्रथम की ८ संस्थायें केवल अवस्थासूचक हैं। सात लोकों में से अन्तिम ब्रह्म लोक, जो सप्त व्याहृतियों में "सत्यम्" नाम से है, वही है, जो "देवयान" का निर्दिष्ट स्थान है और जिसका ब्रह्मलोक ही नाम उपनिषदों में भी दिया गया है।

सत्यव्रत—पहले यह बात कही गई है कि आत्मा का ब्रह्म लोक वास (मुक्ति) सदा के लिये नहीं है किन्तु एक परान्त काल तक के लिये है, तो फिर जीव वहां से लौट कर किस

इन्द्र बिजली का नाम प्रसिद्ध ही है, इसलिये आठवीं वैद्युती अवस्था के लिये वेद मंत्र में इन्द्र शब्द का आना उचित ही था। (९) "विश्वेदेवा" समस्त दिव्य गुणों को कहते हैं और ये दिव्य (ऐश्वर्य) गुण जीवात्मा में शरीरों के समस्त बन्धनों से मुक्त होने ही पर आते हैं, इसलिये नवीं और अन्तिम दशा ब्रह्मलोक के लिये वेद में "विश्वेदेवा" शब्द प्रयुक्त हुये हैं। इस प्रकार देख लिया गया कि तीसरी गति प्राप्त "देवयान" के यात्री जिन आठ दशाओं में होकर अपने निर्दिष्ट स्थान ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं। वेद में इन्हीं आठ दशाओं का वर्णन ग्यारह शब्दों में किया गया है जैसा कि ऊपर कहा गया। उपनिषद् का अन्तिम ध्येय ब्रह्मलोक जो ९ की संख्या पर आया है वही ध्येय वेद में बारहवीं संख्या पर है, दोनों के भावों में कुछ भी अन्तर नहीं है।

प्रकार जन्म लेते हैं ? क्योंकि जन्म लेने के लिये तो वासना का होना ज़रूरी है और मुक्त जीव के साथ वासना के होने की तो कथा ही क्या, वासना के रहने का स्थान चित्त भी नहीं होता ?

आत्मवेत्ता—यह ठीक है, गर्भ का दुःख भोग सकाम कर्म जन्य वासना का परिणाम है और मुक्ति में अन्तःकरण नहीं रहते, इसलिए वासना तो फिर उसके साथ हो ही नहीं सकती, इसलिये मुक्त जीव मैथुनी सृष्टि में जन्म नहीं लेते किन्तु उनकी उत्पत्ति जगत् के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि द्वारा होती है, जिसका वर्णन अगले संघ में किया जायगा। अब संघ का समय समाप्त हो चुका है।

—*—

पांचवां परिच्छेद

'सातवाँ संघ"

"अमैथुनि सृष्टि का व्याख्यान"

संघ संगठित हो रहा था, इसी बीच में तपोवन की अलौकिक छटा, सुन्दर सुहावने दृश्य और शान्तिप्रद शीतलवायु प्रवाह ने एक भक्त के हृदय को मग्न कर दिया। चन्द्रमा ने स्वच्छ नीले गगन मण्डल में प्रकाशित हो अपनी उज्ज्वल आभा का विस्तार करके उस भक्त के हृदय में उत्पन्न भक्ति प्रवाह को और भी वेग से प्रवाहित कर दिया और भक्त बेसुध-सा होकर प्रभु के यशगान में मग्न हो गया:—

"संघ का प्रारम्भ"

भ्रमर वर गुञ्ज मधुर हरि नाम।
शान्ति पुञ्ज भव भ्रान्ति भञ्ज कर, मोहन, मञ्जु मदाम।
भ्रमर वर गुञ्ज मधुर हरि नाम।
सुभग, सुशील, सुगेय, सुगोचर, अमल, अमोल ललाम।
सुखद, सुबोध सुबुद्धि, प्रमोदित, ऋद्धि, सिद्धि, ध्रुव धाम।
भ्रमर वर गुञ्ज मधुर हरि नाम॥
सजग प्रेममय, त्रिजगत्क्षेममय अनुमेय गुणधाम।
दुरित दोष दुर्वृत्ति, दुराग्रह, द्विविधा, द्वन्द्व विराम॥
भ्रमर वर गुञ्ज मधुर हरि नाम॥

भक्त का भावनापूर्ण गान सुनकर संघ में उपस्थित नर नारी प्रफुल्लित हो उठे और सभी के हृदयों में, क्षणिक ही क्यों न हो, प्रभु के प्रेम और भक्ति के भाव जागृत हो गये। जब संघ में इस प्रकार भक्ति का वायु प्रवाहित हो रहा था, इसी बीच में सब का ध्यान, आत्मवेत्ता ऋषि को आता देख कर, उस तरफ़ हो गया। ऋषि संघ द्वारा प्रदानित सम्मान पूर्वक व्यास गद्दी पर आसीन हुए और नर नारियों को कथामृत-पान का इच्छुक देख कर अपना व्याख्यान प्रारम्भ किया।

आत्मवेत्ता—जगत् की रचना ज्ञान पूर्वक है। जगत के आरम्भ में जो मनुष्य और पशु पक्षी उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्ति का क्रम और है और उसी क्रम का नाम अमैथुनि सृष्टि की उत्पत्ति है। संसार की पहली नस्ल सदैव अमैथुनि होती है और उसके बाद की उत्पत्ति का नाम मैथुनि सृष्टि है। मैथुनि सृष्टि वह है, जो माता और पिता के संयोग से उत्पन्न होती है और अमैथुनि

"अमैथुनि सृष्टि"

सृष्टि वह है जो विना माता पिता के संयोग के उत्पन्न होती है वह किस प्रकार उत्पन्न होती है, उसका क्रम क्या है, उसी का आज व्याख्यान करना है।

"प्राणियों की उत्पत्ति चार प्रकार से"

समस्त प्राणी जो जगत् में उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्ति चार प्रकार से होती है और इसी उत्पत्ति के क्रम से उनके नाम "जरायुज" जो झिल्ली से, "अंडज" जो अंडे से, "स्वेदज" जो पसीने आदि से और "उद्भिज" जो पृथ्वी फाड़ कर उत्पन्न होते हैं। इनमें से अन्तिम दो की तो सदैव अमैथुनि सृष्टि होती है और प्रथम दो की अमैथुनि और मैथुनि दोनों प्रकार की सृष्टि हुआ करती है। अमैथुनि सृष्टि का क्रम इस प्रकार है:—

"अमैथुनि सृष्टि का क्रम"

स्थूल जगत् की उत्पत्ति का सूत्रपात आकाश (Ether) से होता है, उसके बाद क्रम से वायु, अग्नि, और पृथ्वी उत्पन्न होते हैं—पृथ्वी से औषधि औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष उत्पन्न होता है*। यहां वीर्य से तात्पर्य्य रज और वीर्य दोनों से है, अर्थात् दोनों की उत्पत्ति अन्न से होती है। प्राणी चाहे अमैथुनि सृष्टि हो, चाहे मैथुनि, दोनों में रज और वीर्य के मेल से ही उत्पन्न हुआ करता है। मैथुनि सृष्टि में रज और वीर्य के मिलने और गर्भ की स्थापना का स्थान माता का पेट होता है, परन्तु अमैथुनि सृष्टि में इस मेल की जगह माता के पेट से बाहर होती है। प्राणी शास्त्र के विद्वान् बतलाते हैं कि अब ऐसे जन्तु पाये जाते हैं जिनके रज और वीर्य्य माता

[*] देखो तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द बल्ली का प्रथम अनुवाक।

मादा के पेट में अण्डे बनने के कार्य्यार्थ, बिना जुफ़्ती के, वीर्य्य कण पहुँच जाते हैं।

(३) एक प्रकार का कीट जिसे "टेपवर्म" (Tape-worm) कहते हैं और जो मनुष्यों के भीतर पाचनक्रिया की नाली (Human digestive canal) में पाया जाता है, बीस हज़ार अण्डे एक साथ देता है। एक अण्डे में से जब कीट निकलता है तो उसका एक मात्र शिर हुकों के साथ जुड़ा हुआ होता है (It consists simply a head with books) उन हुकों के द्वारा वह आंतों की श्लैष्मिक कला (Mucuous membrane of the int ns-tines) से जुड़ जाता है और उसी शिर से शरीर विकसित होता है, जो शीघ्र ही अनेक भागों (Segme-nts) में विभक्त हो जाता है और वे क्रमशः संख्या और आकार में बढ़ते जाते हैं। प्रत्येक भाग में पुरुष स्त्री के उत्पादक अंग (Sexual orgons) होते हैं—जिनसे स्वयमेव बिना किसी बाह्य सहायता के, गर्भ की स्थापना होती है और कुछ काल के बाद पुराने भाग (S g m nts) पृथक् पृथक् होकर स्वतंत्र कीट हो जाते हैं।

(४) कुछेक मक्खियों में गर्भ—स्थापन-कार्य्य (Sezual function) प्राण के द्वारा पूरे होते हैं।

(५) कुछेक ख़ास तरह की चीटियां गर्भ स्थापना के समय कतिपय नर चींटियों से गर्भित होती हैं, नर चींटी तत्काल मर जाती है, मादा चींटी प्रत्येक नर के वीर्य्य कणों (Sperm) को सुरक्षित रखती है और फिर बिना किसी नर चींटी से मिलने

के, कम से कम ११ वर्ष तक, बराबर एक के बाद दूसरा अण्डा देती रहती हैं।

इन उदाहरणों से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि यह असम्भव नहीं है कि रज और वीर्य्य का सम्मेलन माता के पेट से बाहर हो और उससे प्राणी की उत्पत्ति हो सके। इसी मर्यादा के अनुसार अमैथुनि सृष्टि में रज और वीर्य्य का मेल माता के पेट से बाहर होकर एक झिल्ली* में सुरक्षित बढ़ता रहता है और जब प्राणी इस बाह्य गर्भ में इतना बड़ा हो जाता है कि अपनी रक्षा आप कर सके तब उस झिल्ली के फट जाने से प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, इसी का नाम "अमैथुनि सृष्टि द्वारा प्राणियों का युवावस्था में उत्पन्न होना है"।

"एक कीट का उदाहरण"

अमैथुनि सृष्टि का कार्य्य अच्छी तरह समझा जा सके कि किस प्रकार बिना प्राणियों के यत्न के रज और वीर्य्य का स्वयमेव सम्मेलन तथा प्राणी के पुष्ट और स्वयं कार्य्य करने के योग्य होने पर झिल्ली का फट जाना आदि कार्य्य अलौकिक रीति से हो जाया करते हैं। इसके लिये एक उदाहरण दिया जाता है:—

सुदर्शन नाम की औषधि को प्रायः बहुत लोग जानते हैं। कानों के रोग की चिकित्सार्थ इसका अर्क कानों में डाला जाया करता है। जब इस औषधि के पत्तों में कीड़े लगने वाले होते हैं, तभी इसको ध्यान पूर्वक देखना चाहिये-ऐसा देखने से

(१) संस्कृत में इस झिल्ली को "उल्व" या "जरायु" कहते हैं और इस "जरायु" द्वारा उत्पन्न होने से मनुष्यादि प्राणी "जरायुज" कहलाते हैं।

प्रकट होगा कि एक काले रंग की कोई वस्तु सुदर्शन के पत्ते पर कहीं से आकर पड़ती है, जो उस पत्ते को पकड़ लेती है। यह वस्तु कहां से किस प्रकार आ जाती है, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका। दो एक दिन वह वस्तु पत्ते पर बाहर रहती है। उसके बाद, किसी अज्ञात विधि से, वह पत्ते के बीच अर्थात् पत्ते की झिल्ली और दल के बीच आ जाती है। उस समय तक स्पष्टतया मालूम होता रहता है कि वही काली वस्तु जो पहले पत्ते के ऊपर थी अब पत्ते की दोनों पतली और मोटी तहों के बीच में आ गई है। कुछ दिनों के बाद वह इस प्रकार से पत्ते के बीच में आ जाती है कि अब वह बाहर से दिखाई तो देती नहीं परन्तु यह साफ मालूम पड़ता है कि पत्ते के बीच में कोई वस्तु मौजूद है। अब क्रमशः पत्ते के भीतर यह वस्तु लम्बाई में बढ़ती जाती है और लगभग दो इञ्च के लम्बी हो जाती है। इसके बाद कुछ कार्य्य भीतर ही भीतर होता है और अन्त में कई दिन के बाद वह पत्ता फट जाता है और उसमें से हरे रंग का एक लम्बा और गोल कीड़ा, जिस की लम्बाई में दो सुनहरी रेखायें होती हैं, निकल आता है। इन सुनहरी रेखाओं (Segments) से कीड़े की लम्बाई तीन बराबर के भागों में विभक्त हो जाती है। यह कीड़ा अब अच्छी तरह सुदर्शन की पत्तियां खाकर अपने को जीवित रखता, परन्तु पौदे को नष्ट कर देता है।

"एक और परीक्षण"

अब इसी कीड़े को एक बक्स में, जिसके ऊपर शीशे लगा था, रक्खा गया और उसके खाने के लिये सुदर्शन की पत्तियां रख दी गईं। कई परिवर्त्तनों के बाद कुछ दिन गुज़रने पर उस कीड़े के तीनों भाग

पृथक् पृथक् तितलियों की शक्ल में हो जाते हैं। ऐसा होने पर जब बक्स खोला गया तो वह तितिलियां, बहुत सफ़ाई से बक्स खुलते ही, उड़ गईं। यह परीक्षण जिसे जो कोई भी चाहे कर सकता है, अमैथुनि सृष्टि की अनेक अलौकिक बातों पर प्रकाश डालता है कि किस प्रकार वह सब कार्य्य प्राकृतिक नियमों द्वारा हो जाते हैं। यह अमैथुनि और मैथुनि सृष्टि का क्रम, ठीक वैज्ञानिक और उसी प्रकार से है जैसे खिलौने बनाने वाले, पहले एक साँचा बना लेते हैं और उसके बाद उसी साँचे से अनेक खिलौने ढाल लिया करते हैं।

"सांचे का उदाहरण"

अमैथुनि सृष्टि की प्रत्येक योनि सांचे के सदृश है और उसके बाद मैथुनि सृष्टि, उसी बने हुये सांचों से खिलौने की भांति है—

इस प्रकार देख लिया गया कि मुक्त जीव जो दुनियां में लौट कर उत्पन्न होते हैं, उनको माता के गर्भ में आकर गर्भ का कष्ट नहीं भोगना पड़ता, परन्तु उसके बाद माता के गर्भ द्वारा उत्पत्ति के लिये वासना की अपेक्षा होती है। अमैथुनि सृष्टि में उत्पन्न होने के लिये वासना की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती।

सत्यशील—मुक्ति की अवधि का प्रारम्भ तो उसी समय से होता होगा, जब से किसी की मुक्ति होती है। फिर कैसे आवश्यक है कि मुक्त जीव का जन्म सृष्टि के प्रारम्भ ही में हो? यदि मुक्ति समय सृष्टि के बीच में समाप्त होगा, तो उसे उसी समय जन्म भी लेना पड़ेगा—

आत्मवेत्ता—मुक्ति की अवधि अहोरात्र (सृष्टि और महाप्रलय) की संख्याओं के हिसाब से नियत है, जिस अहोरात्र में मुक्ति होती है, चाहे वह किसी समय क्यों न हो, वह अहो-रात्र की एक संख्या मानी जाती है। ऐसी अवस्था में सृष्टि के बीच में कभी मुक्ति की अवधि समाप्त नहीं हो सकती।

"छठा परिच्छेद"

मुक्ति का आनन्द

"आनन्द के भोग का प्रकार"

सूक्ष्मदर्शी—मुक्त में जीव किस प्रकार आनन्द का उपभोग करते हैं।

आत्मवेत्ता—जगत् में मुक्ति के आनन्द का उदाहरण दिये जाने योग्य वस्तु "सुषुप्ति" अवस्था है। "सुषुप्ति" में जिस प्रकार मनुष्य शारीरिक बन्धनों से स्वतन्त्र-सा होता है और एक अकथनीय प्रसन्नता का अनुभव, विना इन्द्रियों से काम लिये आत्मा से किया करता है, उसी प्रकार का परन्तु उससे उच्च कोटि का आनन्द उसके आत्मानुभव में उस समय आया करता है, जब वह मोक्ष प्राप्त कर लिया करता है। "वह मुक्त जीव जिस जिस प्रदेश या वस्तु या और भी जिस प्रकार की कामना किया करता है, वे सब उसके संकल्प ही से उसे

प्राप्त हो जाते हैं। वह यदि कामना करता है कि "पितृ लोक" को प्राप्त करे, तो संकल्पमात्र ही से उसे "पितृ लोक" प्राप्त होता है। वह यदि कामना करे कि "मातृ लोक", "भ्रातृ लोक", "स्वसृ लोक" या "सखि (मित्र) लोक" को प्राप्त करे, तो संकल्प मात्र ही से ये सब उसे प्राप्त हो जाते हैं। वे यदि गन्ध माला, अन्न पान, गति वादित्र आदि वस्तुओं के कामनावान् होते हैं, तो संकल्प करने ही से उन्हें ये सब प्राप्त हो जाते हैं।

इन अन्नादि वस्तुओं की, क्या उस मुक्त जीव को, आवश्यकता होती है, ऐसी बात नहीं है। यह वर्णन केवल जीव के सामर्थ्य कथन के अभिप्राय से है अर्थात् मुक्तजीव स्वेच्छाचारी होता है, वह जीव की सीमा में रहते हुये, जो चाहे कर सकता है, परन्तु वह इस प्रकार कार्य्य नहीं करता है, क्योंकि इनसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। यहां प्रश्नोत्तर उद्धृत किया जाता है, उससे इस पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा।

---

(१) पितृ, मातृ, भ्रातृ, आदि लोकों की कामना का भाव यह नहीं है कि यह कि वह संसार में जिन माता पिता आदि को अपना जन्मदाता या सम्बन्धी समझता था, उन्हें प्राप्त करें क्योंकि वह अपने (ममता) का भाव तो अब उसके पास ही नहीं है, बल्कि यों समझना चाहिये कि जब तक इस भाव को नष्ट न कर देवे, तब तक कोई मुक्ति ही नहीं प्राप्त कर सकता। इन लोकों की प्राप्ति का भाव विश्व पितृ भाव (General father hood) विश्व मातृ भाव (General mother hood) विश्व भ्रातृ भाव (General brother hood) आदि से है।

देखो छन्दोपनिषद् प्रपाठक ८ खण्ड २

३ बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ४, ब्राह्मण ३ कंडिका १६ तथा २४ से ३१ तक।

"एक प्रश्नोत्तर" जनक—(याज्ञवल्क्य से) आप मुझे मोक्ष के सम्बन्ध में उपदेश देवें।

याज्ञवल्क्य—(अनेक शिक्षायें देने के बाद मुक्त जीव का कथन करते हैं) मुक्त जीव, मुक्तावस्था में, न देखता, न सूंघता, न चखता, न बोलता, न सुनता, न मनन करता, न स्पर्श करता, न (इन्द्रियों द्वारा) कुछ जानता है। ये सब इसलिये नहीं कि मुक्त जीव में ये शक्तियां या सामर्थ्य नहीं। उसमें यह सामर्थ्य सदा बना रहता है, क्योंकि जीव का सामर्थ्य नित्य और अविनाशी है, किन्तु वह जो देखता, सूंघता, चखता इत्यादि नहीं है उसका कारण यह है कि मुक्ति में जीव को ये और इस प्रकार के अनेक प्रकार के सामर्थ्य प्राप्त रहते हैं, जिनसे उनमें यह योग्यता होती है, कि वह किसी वस्तु को अपने से भिन्न अर्थात् अप्राप्त नहीं समझता। जहां अपने से भिन्न (अप्राप्त) वस्तुयें हों, वहां अन्य अन्य को देखे, अन्य अन्य को सूंघे, अन्य अन्य का स्वाद लेवे, अन्य अन्य से सुने, अन्य अन्य का मनन करे, अन्य अन्य को छूवे, अन्य अन्य को जाने।

आत्मवेत्ता—याज्ञवल्क्य के उत्तर से स्पष्ट है कि जीव को मुक्ति में जीव के सभी संभव सामर्थ्य, प्राप्त रहते हैं, परन्तु वह उन्हें इस प्रकार के कार्य्यों में व्यय नहीं करता, क्योंकि उसे इन सभी से बढ़ कर उच्च कोटि का आनन्द प्राप्त रहता है, फिर वह इन तुच्छ विषयों की ओर कब ध्यान दे सकता है।

"आनन्द मीमांसा"

प्रेमरस—मुक्ति का आनन्द उच्च कोटि बतलाया जाता है। क्या आप कृपा करके कुछ ऐसा उपदेश करेंगे, जिससे उसकी उच्चता का कुछ अनुमान किया जा सके ?

आत्मवेत्ता—शास्त्रकारों ने मुक्ति के आनन्द के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला है, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

तैत्तिरीयोपनिषद् अनुसार (ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक् ८)	शतपथ ब्राह्मण के अनुसार (देखो १४।७।१।३१)	बृहदारण्यकोपनिषद् (काण्वशाखा) के अनुसार (देखो ४ ३ ३ २)
(१ मनुष्यों के १०० आनन्द मनुष्य गंधर्व के एक आनन्द के समान	मनुष्य के १०० आनन्द=पितर जित लोक का एक आनन्द	मनुष्यों के १०० आनन्द=पितर जित लोक के एक आनन्द के
(२) मनुष्य गन्धर्वों के १०० आनन्द=देव गन्धर्व का एक आनन्द	—	—
(३) देव गन्धर्वों के १०० आनन्द=पितर चिर लोक का एक आनन्द	—	—

(४) पितरों के १०० आनन्द=आजानज देव का एक आनन्द	पितरजित लोक के १०० आनन्द=कर्म देवके एक आनन्दके	पितरजित लोक के १०० आनन्द=गंधर्व के एक आनन्द के
(५) आजानज देवों के १०० आनन्द= कर्म देवों के एक आनन्द के	—	गन्धर्वों के १०० आनन्द=कर्म देव के एक आनन्द के
(६) कर्म देवों के १०० आनन्द=देवों के एक आनन्द के	कर्म देवों के १०० आनन्द=देवों के १ आनन्द के	कर्म देवों के १०० आनन्द=आजानज देव के १ आनन्द के
(७) देवों के १०० आनन्द=इन्द्र का १ आनन्द	देवों के १०० आनन्द =गन्धर्व के एक आनन्द के	—
(८) इन्द्र के १०० आनन्द=बृहस्पति का एक आनन्द	—	—
(९) बृहस्पति के १०० आनन्द=प्रजा पति का आनन्द	गन्धर्वों के १०० आनन्द=प्रजापति के १ आनन्द के	आजानज देवों के १००आनन्द=प्रजा पति के १ आनन्दके
(१० प्रजापति के १०० आनन्द=ब्रह्म का १ आनन्द	प्रजापति के १०० आनन्द=ब्रह्मके एक आनन्द के	प्रजापति के १०० आनन्द=ब्रह्म का १ आनन्द

इस विवरण में आये हुए आनन्द भोक्ताओं को ठीक ठीक समझा जा सके, इस लिये उन का कुछ विवरण यहां दिया जाता है:—

(१) "मनुष्य"—जो व्यक्ति युवा, सच्चरित्र, वेदज्ञ, दृढ़ांग, शासक और बलवान् हो और जिसके अधीन धन धान्य से पूर्ण पृथ्वी भी हो, वह "आदर्श मनुष्य" समझे जाने के योग्य होता है, ऐसे व्यक्ति को जो सुख प्राप्त होता है, उन सब सुखों की मात्रा का नाम "एक आनन्द" है।

(२) "मनुष्य गन्धर्व"—मनुष्य के साथ गन्धर्व* विशेषण जोड़ने का भाव यह है कि मनुष्यत्व के सं० १ में वर्णित आदर्श की पूर्ति के साथ मनुष्य में यह योग्यता और भी हो कि साम-गान के द्वारा ईश्वरोपासना में मग्न रहता हो।

(३) "देव गन्धर्व" मनुष्यों के ३ भेद होते हैं:—निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट। उत्कृष्ट मनुष्य वे होते हैं, जिन्होंने योगाभ्यास द्वारा दिव्य गुणों को प्राप्त किया हो। ऐसे ही पुरुषों का नाम "देव" होता है। "मनुष्य" शब्द साधारणतया मध्यम श्रेणी के पुरुषों के लिये प्रयुक्त होता है। निकृष्ट पुरुष असुर, पिशाच और दस्यु आदि शब्दों का वाच्य होता है। "देव गन्धर्व" का भाव "उत्कृष्ट मनुष्य गन्धर्व" है।

(४) "चिर लोक पितर"—पितर (पितृ) शब्द के अर्थ रक्षक के हैं। जो लोग वेद विद्या, अपने परिवार, अपने देश और जाति की रक्षा में सदैव तत्पर रहते थे, उनका नाम वैदिक

---

* कहीं कहीं किसी लेखक ने गन्धर्वों का स्थान (गन्धर्व लोक) आकाश को लिखा है। प्रथम तो सभी प्राणी आकाश ही में रहते हैं, पृथ्वी भी, जिस पर मनुष्य रहते हैं, आकाश ही में गतिमान् है। इसके अतिरिक्त गन्धर्व नाम सूर्य्य की किरणों का भी है और गन्धर्वों के आकाश में रहने का भाव यह है कि सूर्य्य की किरणें आकाश में रहती हैं।

काल में "पितर" होता था। माता पिता के सिवा अन्य पुरुषों के लिये यह शब्द पदवी के तौर पर प्रयुक्त होता था, चिरलोक का विशेषण इसलिये लगाया गया है, कि चिरकाल तक पितृत्व की प्राप्ति समझी जावे। मृत्यु के बाद दूसरी गति प्राप्त करने वाले प्राणियों का नाम भी "पितर" ही होता है।

वीरहरी—पितरों को देव गन्धर्वों से विशेषता क्यों दी गई है?

आत्मवेत्ता—इसका कारण यह है, कि मनुष्य गन्धर्व और देव गन्धर्व सब कुछ अपने लिये ही करते हैं, परन्तु पितर अन्यों की रक्षा और सेवा करते हैं। जिसका नाम परोपकार है, इसीलिये उनका दरजा उन व्यक्तियों से, जो केवल अपने लिये ही जाते हैं, ऊंचा ठहराया गया है।

(५) आजानज देव—आजान नाम "देवलोक" अर्थात् ऐसे स्थानों का है, जहां देवों (उत्कृष्ट मनुष्यों) का निवास हो, ऐसे स्थानों से उत्पन्न होने वाले व्यक्ति "आजानज" कहलाते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों, श्रेष्ठ परिवार आदि से उत्पन्न होना भी श्रेष्ठ कर्मों का ही फल होता है, इसलिये ऐसे पुरुष भी "देव कोटि" में ही रक्खे जाते हैं।

आनन्दपाल—यदि "आजानज" कहलाने वाले व्यक्ति अपने अनुरूप कर्म न करें, तो क्या वे तब भी "देव" ही समझे जावेंगे।

आत्मवेत्ता—जिस व्यक्ति के उत्तम संस्कार हों और पैदा भी वह देवों के मध्य में हुआ हो, तो बहुत कम सम्भावना

है कि उसके कर्म उसके अनुरूप न हों, क्योंकि उत्तम संस्कार युक्त प्राणी कुसंगति में पड़ कर ही बिगड़ा करते हैं, परन्तु कल्पना के तौर पर यदि मान लिया जावे कि उसके कर्म के उस के अनुरूप न हों, तो वह 'आजानज" देव न कहला सकेगा। यह प्रकरण तो आनन्द की गणना का है। आनन्द की गणना में बुरे पुरुषों का समावेश असम्भव है।

(६) "कर्म देव"—जो अपने कर्मों से "देवत्व" प्राप्त करते हैं, उनको "कर्म देव" कहते हैं।

(७) "देव"—दिव्य गुण युक्त।

(८) "इन्द्र"—देवों अगुवा या नेता।

(९) "बृहस्पति"—देवों का उपदेष्टा या शिक्षक।

(१०) "प्रजापति"—देवों का सम्राट् (चक्रवर्ती राजा)।

इस विवरण से स्पष्ट है कि जगत् में सबसे ऊंचा आसन प्रजापति का है। और प्रजापति को जो सुख प्राप्त हैं, उन समस्त सुखों को प्रजापति का एक आनन्द कहते हैं। ऐसे आनन्द का सौ गुणा किया जावे, तो वह ब्रह्म के एक आनन्द के तुल्य होगा। इस प्रकार के असीम आनन्द ब्रह्म को प्राप्त हैं और उन्हीं में से कुछेक आनन्द मुक्त जीव प्राप्त कर लेता है।

आनन्दानन्द—मुक्त जीव के आनन्द का, जो उपर्युक्त विवरण है, क्या यह विवरण प्रत्येक आनन्द की नाप तोल कर के दिया गया है।

आत्मवेत्ता—यह विवरण आनुमानिक और केवल मुक्ति के आनन्द की अद्वितीयता दिखलाने के वास्ते दिया गया है और

विचरण से यह उद्देश्य अति उत्तमता से पूरा होता है। जगत् में सब से बड़ा सुख प्रजापति का एक आनन्द है और प्रजापति के आनन्द के सौ गुने बराबर जगत् में कोई आनन्द ही नहीं है और यह सौ गुना आनन्द मुक्ति के आनन्द का दिग्दर्शन मात्र है—इस लिये मुक्ति के आनन्द की अद्वितीयता स्पष्ट है।

"मुक्ति के आनन्द की विशेषता का कारण" प्रजाबन्धु—मुक्ति के इस आनन्द की विशेषता का कारण क्या है ?

आत्मवेत्ता—इसके दो कारण हैं।

(१) पहिला और मुख्य कारण तो यह है कि आत्मा को ओ३म् पद वाच्य सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त होता है, जो निरावलम्बों का श्रेष्ठ अवलम्ब, निराश्रितों का उत्कृष्ट आश्रय, असहाय और दीनों का बन्धु और सखा, भक्तों का वत्सल है और जिसकी विलक्षण सत्ता का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। क्या यह कम विलक्षणता है कि उसमें, माता का प्रेम, पिता का वात्सल्य, गुरु का स्नेह, सखा का सखित्व, बन्धु का बन्धुत्व, राजा की न्यायप्रियता, सहृदयों की दयालुता आदि गुण जिनकी कोई संख्या नहीं और जो किसी प्रकार से भी गणना में नहीं आ सकते, एकत्रित हैं।

(२) दूसरा कारण यह है कि प्राणी अपनी अत्यन्त प्रिय वस्तु स्वतन्त्रता का उस मात्रा में उपभोग करता है, जितनी या जिससे अधिक मात्रा में उसे वह और किसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकता।

उपमन्यु—प्राणी स्वतन्त्रता का तो, एक अंश तक, जीवन-काल में, शरीर रखते हुये भी उपभोग करता है। तो इस और मोक्ष की स्वतन्त्रता में केवल मात्रा भेद ही कहा जा सकता है।

आत्मवेत्ता केवल मात्रा भेद नहीं, किन्तु श्रेणी भेद भी है शरीर रखते हुये प्राणी जिस स्वतन्त्रता का उपभोग करता है, वह स्वतन्त्रता अर्द्ध बन्दी की स्वतन्त्रता के सदृश है मनुष्येतर योनियां तो केवल भोग योनि होने से बन्दीगृह [जेलखाने] के सदृश हैं और उनमें जाने वाला प्राणी तो पूरा पूरा बन्दी होता है। परन्तु मनुष्य योनि में, कर्तव्य और भुक्तव्य उभय योनि होने से, मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है; परन्तु फल भोग के समय तो मनुष्य योनि भी जेल-खाना ही होती है। इसीलिये मनुष्य योनि में प्राप्त स्वतन्त्रता अर्द्ध बन्दी की स्वतन्त्रता कही जाती है। परन्तु मोक्ष में जीव को किसी प्रकार के भी शरीर का, बन्धन नहीं रहता, इसलिये वह स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। इसी लिये कहा जाता है कि, दोनों प्रकार की स्वतन्त्रताओं में केवल मात्रा भेद ही नहीं किन्तु श्रेणी का भेद भी है।

आत्मवेत्ता ऋषि के व्याख्यान और शंकाओं का समाधान करने के साथ ही संघ का समय भी समाप्त हो गया। संघ के समाप्त होने पर श्रोता जन प्रसन्न वदन प्रतीत होते थे। उनमें जो साधारण स्थिति के पुरुष थे, उनको भी यह विश्वास हो चला था

"संघ का अन्तिम दृश्य"

कि यदि योगी नहीं बन सकते और समाधि भी नहीं लगा सकते, तो भी ईश्वर का भरोसा दृढ़ता के साथ पकड़ लेने ही से उनका कल्याण हो सकता है, इसलिये उनके मुखड़े भी प्रफुल्लित थे। निदान संघ में उपस्थित नरनारी प्रसन्न थे और प्रत्येक के हृदय में यह भाव जागृत हो चुका था, कि जिस प्रकार भी हो सके, अपने अपने हृदय को ईश्वर-प्रेम का मन्दिर बनाना चाहिये और इस भाव के जागृत होने से उनका दृष्टि-कोण भी बदलने लगा। अब उन्हें जगत् की प्रत्येक वस्तु में प्रभु की प्रतिभा की झलक दिखाई देने लगी थी। संघ के इस दृश्य ने संघ में उपस्थित एक भक्त के हृदय में निहित प्रेमाग्नि को धधका दिया और वह मग्न होकर गाने लगाः—

ग़ज़ल।

चन्द्र मंडल में कोई देख ले आभा तेरी।
तेज सूरज का नहीं यह भी है छाया तेरी॥ १॥
तेरी महिमा को प्रकट करती है रचना तेरी।
देख ले आके जगत् में कोई महिमा तेरी॥ २॥
होंठ वे होंठ रहें जिन पै प्रशंसा तेरी।
मन वह मन है कि भरी जिसमें हो श्रद्धा तेरी॥ ३॥
तेरी तकबीरों† की देती है गवाही दुनियां।
तेरी हस्ती की शहादत में है रचना तेरी॥ ४॥
ज़िक्र सौसन‡ की ज़ुबां पर है तेरी रहमत का।

---

† तकबीर = महत्ता, बड़प्पन।

‡ सोसन एक फूल का नाम है, जिसे फ़ारसी कविता में ज़ुबान से उपमा दी जाया करती है।

सर्प इक पांव से करता है तपस्या तेरी ॥ ५ ॥
गोशे नाज़ुक में गुलेतर† के छिपा भेद तेरा।
चश्मे नरगिस‡ में निहाँ सूरते ज़ेबा तेरी ॥ ६ ॥
हर तरफ़ खोज में फिरती है तिरे वादे सबा+ ।
बुलबुलें बाग़ में करती हैं तमन्ना× तेरी ॥ ७ ॥
कामना कोई नहीं जिसकी हो इच्छा बाक़ी।
दिल में इक तू है और इक मिलने की आशा तेरी ॥ ८ ॥
इक दृष्टि हो इधर भी कि इसी फल के लिये।
जप रहा हूँ मैं बहुत देर से माला तेरी ॥ ९ ॥

दूसरी ग़ज़ल।

मन यदि ठहरा तो चित्त है शान्त ईश्वर प्रेम में।
और हृदय बन गया है प्रेम मन्दिर प्रेम में ॥ १ ॥
नम्रता भावों में आई शील आया चित्त में।
भर दिया है शान्ति ने मन को ईश्वर प्रेम में ॥ २ ॥
आदमी तो क्या पशु पक्षी भी मोहित हो गये।
कुछ अजब जादू भरा है चार अक्षर प्रेम में ॥ ३ ॥

---

† गुलाब के फूल में, फ़ारसी भाषा के कवियों ने, कान होने की कल्पना की है।

‡ नरगिस फूल विशेष का नाम है, जिसके पत्तों से आंख को उपमा दी जाया करती है।

+ वादे सबा = उत्तम वायु।

× तमन्ना = इच्छा।

हम हुये ब्रह्माण्ड के ब्रह्माण्ड अपना हो गया।
और क्या दरकार है इससे भी बढ़कर प्रेम में ॥ ४ ॥
है यही इच्छा यही है आर्ज़ूये दिल कि मैं।
देख लूं इकबार तुमको आंख भर कर प्रेम में ॥ ५ ॥

———o———

सातवां परिच्छेद

'आठवाँ संघ"

"अवस्थायें"

[जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति]

जान्हवी तट पर सुन्दर सुन्दर सुरम्य तपोभूमि में संघ लगा हुआ है, अनेक नर नारी उपदेश ग्रहण करने के लिये एकत्रित हैं और सभी आत्मवेत्ता ऋषि की प्रतीक्षा में हैं। ठीक समय पर ऋषि को आता हुआ देख सभी नर नारी प्रफुल्लित हो गये और सम्मानपूर्वक ऋषि को व्यास गद्दी पर बिठलाया। ऋषि के आते ही संघ में शान्ति का वायु प्रवाहित होने लगा। संघ के नर नारी प्रतीक्षा में थे कि आज क्या उपदेश मिलेगा, कि इसी बीच में संघ की एक देवी ने खड़े होकर इस प्रकार नम्रता से कथन किया:—

सुभद्रा—सुषुप्ति को मोक्ष का उदाहरण पिछले सङ्घ में बतलाया गया था—ये अवस्थायें क्या वस्तु हैं? इनमें क्या भेद है? किस प्रकार मोक्ष का उदाहरण है? और इन

अवस्थाओं का सम्बन्ध किस प्रकार लोक और परलोक से है? यह जानने की इच्छा संघ में उपस्थित अधिकतर नर नारियों की है। इसीलिये आज इसी का उपदेश हो, तो अच्छा हो।

"अवस्थायें तीन हैं"

आत्मवेत्ता—बहुत अच्छा! आज अवस्थाओं का ही व्याख्यान होगा। ३ अवस्थायें जगत्प्रसिद्ध हैं। १, (जागृत) २, (स्वप्न) ३, (सुषुप्ति) इनका सम्बन्ध शरीरों से है। "जागृत" का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, "स्वप्न" का सूक्ष्म शरीर से और "सुषुप्ति" का कारण शरीर से।

"जागृत अवस्था"

इनमें से "जागृत अवस्था" वह है जिसमें स्थूल और सूक्ष्म शरीरों अर्थात् इन्द्रिय और मन दोनों का काम जारी रहता है। मनुष्य इस अवस्था में जगत् से साक्षात् सम्बन्ध रखता है। जगत् में देखने योग्य वस्तुओं को देखता, सुनने योग्य वस्तुओं को सुनता, इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के व्यवहार को करता हुआ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को ग्रहण करता रहता है।

"स्वप्नावस्था"

"स्वप्नावस्था" में स्थूल शरीर का कार्य्य बन्द रहता है, केवल सूक्ष्म शरीर काम करता रहता है—अर्थात् इन्द्रिय व्यापार तो बन्द रहता है, परन्तु संकल्प विकल्पात्मक मन अपना काम जारी रखता है। इसी मन के व्यापार को स्वप्न (Dreams) कहते हैं।

आनन्द प्रिय—ये "स्वप्न" क्या हैं? क्या नई नई कल्पनायें स्वयमेव मन किया करता है? या पिछले देखे, सुने के स्मरण मात्र का नाम "स्वप्न" है?

"स्वप्न क्या है?"

आत्मवेत्ता—एक जगह इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है, जो इस प्रकार है:—

"स्वप्नावस्था में मन अपनी महिमा का अनुभव करता है जो देखा हुआ है. उसी को पुनः देखता है, सुने हुए को पुनः सुनता है, भिन्न भिन्न अवस्थाओं और स्थानों में जिन जिन विषयों का अनुभव किया हुआ है, उन्हीं का बार बार अनुभव करता है।"

इतना उत्तर देने के बाद अन्त में कहा गया है "कि दृष्ट, अदृष्ट, श्रुत, अश्रुत, अनुभूत, अननभूत, सत्य, असत्य सभी को देखता है।" *

आनन्दघन—उत्तर के अन्त में तो अदृष्ट, अश्रुत और अनुभुत विषयों के भी देखने, सुनने और अनुभव करने की बात कही गई है।

आत्मवेत्ता—यह बात कही जा चुकी है, कि मृत्यु स्थूल शरीर की होती है, सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ मृत्यु के समय स्थूल शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में चला जाया करता है। इस प्रकार जन्म जन्मान्तरों की देखी, सुनी और अनुभव की हुई बातें, स्मृति के रूप में सूक्ष्म शरीर के एक अंग "चित्त" में जमा रहती हैं और जिस प्रकार इसी विचलित जन्म की

* प्रश्नोपनिषद् ४ । ५ ।

बातें, जो स्मृति रूप में हैं, प्रकरण आने पर स्मृति भंडार से निकाल कर ताज़ा होती हैं। इसी प्रकार जन्म जन्मान्तर की बातें भी, प्रकरण आने पर, उसी स्मृति भंडार से निकल आया करती है—इस जन्म में मनुष्य को जो आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियां मिली हैं, उन्हीं के द्वारा जिन बातों को देखा और सुना है, उन्हीं को मनुष्य दृष्ट और श्रुत शब्दों में कहा करता है—परन्तु पिछले जन्मों की देखी और सुनी बातें जो उन जन्मों में प्राप्त आंख कान के द्वारा देखी और सुनी गई थीं और जो अब स्मृति भंडारमें जमा हैं, इस जन्ममें प्राप्त आंख और कान की अपेक्षा तो अवश्य 'अदृष्ट' और 'अश्रुत' हैं और इस लिए अब उन्हें मनुष्य अदृष्ट और अश्रुत कहते हैं। परन्तु वास्तव में वे, न अदृष्ट हैं और न अश्रुत और न मन की कल्पना मात्र ही हैं। निष्कर्ष यह है कि स्वप्न में मनुष्य जो कुछ भी देखा सुना या अनुभव किया करता है, वे सब उसकी देखी सुनी और अनुभव की हुई बातें ही होती हैं, चाहे, वे इस जन्म की देखी सुनी और अनुभव की हुई हों, चाहे पिछले जन्म जन्मान्तरों की—

जब स्थूल, और सूक्ष्म दोनों शरीरों का काम बन्द होता है, अर्थात् न इन्द्रिय काम करती हैं और न मन

"सुषुप्तावस्था"

और जब समस्त वे काम जो इरादा करके किए जाते हैं, बन्द रहते हैं, तब उस अवस्था का नाम हुआ करता है और यही वह अवस्था है, जिसमें मनुष्य को पूरा आराम मिला करता है—इसी लिए इस अवस्था को मोक्ष का उदाहरण भी दिया करते हैं—

इन अवस्थाओं के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य और जनक सम्वाद प्रसिद्ध है और इस प्रकार है:—

"याज्ञवल्क्य और जनक सम्वाद"

याज्ञवल्क्य—जीवात्मा के दो लोक होते हैं (१) इहलोक* (२) परलोक परन्तु एक तीसरा लोक और भी होता है और वह है इन दोनों लोक पर-लोक की सन्धि अर्थात् "स्वप्न लोक"—जीव इस सन्धि (स्वप्न) लोक से लोक और परलोक दोनों को देखा करता है, पर (इस जन्म से पहिले) लोक में जीव का जैसा जैसा आक्रम† (आक्रम) होता है, उसी आक्रम के आधार से जीव इस लोक में दुःख और सुख देखा करता है—उस समय (स्वप्नावस्था में) सर्व वासनायुक्त इस लोक की एक मात्रा (वासना का एक अंश) को लेकर स्वयं उसे नष्ट करता पुनः स्वयं उसे बनाता अर्थात् अपने प्रकाश और अपनी ही ज्योति से स्वप्नक्रीड़ा का आरम्भ करता है—उस अवस्था में उसके पास न रथ होता है; न उसके घोड़े आदि, परन्तु वह इनकी (काल्पनिक) रचना कर लेता है—उसके पास आनन्द, मोद, प्रमोद भी नहीं होते, परन्तु वह इन्हें भी (अपने संकल्पों से) रच लेता है—वह जीव उच्च नीच

---

* इह लोक का तात्पर्य इस जगत् से है, जिसमें प्राणी निवास करता है और जिससे जागृतावस्था द्वारा उसका सम्बन्ध बना रहता है। परलोक का अभिप्राय इस जन्म से पहले और पीछे के जन्मों अथवा अवस्थाओं से है।

† आक्रम सीढ़ी को कहते हैं—परलोक के आश्रय से यह मतलब है कि जीव के जैसे ज्ञान, कर्म और वासनायें होती हैं, उन्हीं के अनुकूल उसे दुःख सुख भोगना पड़ता है।

विविध भावों को प्राप्त होता हुआ अनेक रूप उत्पन्न कर लिया करता है-कभी स्त्रियों के साथ सुखानुभव करता है, हंसता है, कभी हर तरह के भयों को देखता है—

जनक—इससे आगे की भी अवस्था का उपदेश करें।

याज्ञवल्क्य—जीवात्मा रमण और भ्रमण करता है; पुण्य और पाप को देखता हुआ आगे के संप्रसाद (सपुप्तावस्था) में पहुँचता है और वहाँ से "प्रतिनाय" द्वारा (जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से लौट कर प्रतियोनि (जिस स्वप्नावस्था से सुषुप्ति में गया था) उसी स्वप्नावस्था को लौटता और इसी प्रकार स्वप्नावस्था से जागृतावस्था के लिये लौटता है-परन्तु इस स्वस्थान में जो कुछ वह देखता उससे लिप्त नहीं होता।

जनक—इससे आगे सम्यग्ज्ञान के लिये उपदेश देवें।

याज्ञवल्क्य—जिस प्रकार महामत्स्य नदी के कभी एक किनारे की ओर जाता कभी दूसरे किनारे की ओर—इसी प्रकार जीव स्वप्न और जागृत अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है जिस प्रकार पत्ती अकाश में इधर उधर उड़ जब थक जाते हैं, तब अपने अपने घोंसलों की ओर दौड़ते हैं—इसी प्रकार जागृत और स्वप्न अवस्थाओं के कृत्यों से थका हुआ जीव सषुप्ति के लिये दौड़ता है और वहां पहुँच कर सुखानुभव करता है-उस सुषुप्ति) अवस्था में पिता, अपिता, माता, अमाता, लोक अलोक, देव अदेव, वेद अवेद, स्तेन (चोर) अस्तेन, भ्रूणघाती अभ्रूण-घाती, भ्रमण, अभ्रमण, तापस अतापस होता है—इस

सुषुप्तावस्था में जीव पुण्य और पाप दोनों से असम्बद्ध रहता है और हृदय के समस्त शोक और अशोकों के पार होजाता है।*

सुखदेव—क्या यह ठीक है कि सोते हुये मनुष्य को अचानक न जगावें, क्योंकि कहा जाता है कि, इससे कुछ हानि होती है।

आत्मवेत्ता—एक मत यह है कि सोते हुये को सहसा जगाने से वह स्थान जहां मनुष्य की इच्छित शक्तियां काम नहीं करती, दुर्भिषज्य हो जाता है, परन्तु दूसरा मत यह है कि मनुष्य स्वप्न में सिंह आदि उन्हीं वस्तुओं को देखता है जिन्हें जागृतावस्था में देख चुका होता है और इस प्रकार जागृत और स्वप्न में कुछ भेद नहीं है और ऐसी हालत में उसे सहसा जगा देने से कुछ हानि नहीं होती—परन्तु श्रेष्ठता यही है कि घबराहट के साथ सहसा किसी को नहीं जगाना चाहिये।

अवस्थाओं का विवरण जो आत्मवेत्ता ऋषि ने दिया और विशेष कर ज्ञान इस प्रकरण में याज्ञवल्क्य और उनके सम्वाद से हुआ, उससे संघ के सभी नर नारी प्रसन्न थे और अपने अपने हृदयों में प्रत्येक यही भावना रखता हुआ प्रतीत हो रहा था कि अवस्थाओं के ज्ञान से शिक्षा लेकर यत्नवान् होना चाहिये कि जागृत अवस्था को इतना श्रेष्ठ बनाया जावे, कि उसमें सुषुप्ति का आनन्द आने लगे-यही शिक्षा भी अवस्थाओं के वर्णन के अन्तर्गत निहित थी-और इसी आशा में प्रायः सभी

* बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४ ब्राह्मण ३

मग्न हो रहे थे-संघ का कार्य समाप्त हो चुका था, इसलिये आत्मवेत्ता ऋषि अपने निवास स्थान पर चले गये और प्रत्येक नर नारी गंभीरता का भाव हृदय में रखते, उपदेश की सराहना करते और संघ में आने से अपने जीवन को सफल समझते हुये संघ से अपने अपने स्थानों को चले संघ से जाने वालों की प्रसन्नता और भी बढ़ गई जब उन्होंने एक प्रेमी के मुंह से एक गाना सुना, जिसे वह मग्न हो कर गा रहा था।

भजन

मैं उनके दरस की प्यासी ॥ टेक ॥
जिनका ऋषि मुनि ध्यान धरें नित, योगी योगाभ्यासी।
जिनको कहते अमर अलोकी।
आश्रय जिनके सदा त्रिलोकी ॥
जन्म मरण से रहित सदा शिव।
काल-मुक्त अविनाशी ॥ मैं उनके०
आविष्कर्ता अमर वेद का।
लेश न जिसमें भेद छेद का ॥
अचल अमूर्त अलौकिक अनुपम।
परिभू घट घट वासी ॥ मैं उनके० ॥
अतुल राज्य है जिसका जग पर!
सकल सृष्टि है जिसके अन्तर ॥
"अमीचन्द" जिससे होते हैं।
रवि शशि अग्नि प्रकाशी ॥ मैं उनके० ॥

दूसरा भजन

मन पछितै है अवसर बीते।

दुर्लभ देह पाय प्रभु पद भजु करम वचन अरु हीते ॥

सहस वाहु दस वदन आदि नृप बचे न काल वली ते।

हम हम करि धन धाम संवारे अन्त चले उठ रीते ॥

सुत वनितादि जानि स्वारथ-रत न कर नेह सवही ते।

अन्तहु तोहि तजेंगे पामर तन तजै अबहीते ॥

अब नाथहिं अनुराग जागु जड़ त्यागु दुरासा जीते।

बुझै न काम अगिनि "तुलसी" कहुँ विषयभोग बहुघीते ॥

मन पछितै है अवसर बीते।

सभी लोग गम्भीरता के साथ "मन पछितैहै अवसर बीतै" इस कड़ी को वार वार कहते हुये आगे चले गये।

तीसरा अध्याय।

"पहिला परिच्छेद"

"नवां संघ"

रूहों का बुलाना।

"प्रारम्भ"

संघ का कार्य्य यद्यपि सन्ध्या काल व्यतीत होने पर प्रारम्भ हुआ करता है, परन्तु जिज्ञासुओं का जमघटा बहुत पहले ही से होने लगता है। अभी सूर्य्यास्त हुआ है, अभी उसकी अरुण आभा दिखाई ही देती है। सन्ध्या की छाया का धीरे धीरे निर्जन मैदान में उतरना प्रारम्भ ही हुआ है, अभी वह सायंकाल की नीरवता का विशेष सौन्दर्य्य बढ़ाने भी नहीं पाई है कि जिज्ञासुओं के हृदयों में चिन्ता रजनी घनीभूत हो उठी, कि संघ में चलने का समय आ गया—आज संघ में क्या सुनेंगे, उसी के सम्बन्ध में बहुदूर्दर्शिनी, बहु दूर-व्यापिनी अनेक कल्पनाओं से अन्तःकरण परिपूरित हो रहा है—हृदय प्रेम से परिप्लुत है। खिले हुये पंकज पुष्प ने मानो पुनः मुकुलित होकर कलिका का भाव धारण किया हुआ है—भीड़ की भीड़ आत्मवेत्ता ऋषि के आश्रम की ओर चली जा रही है—अनेक दरिद्र हैं, किन्तु सन्तोषी हैं, अनेक अज्ञानी हैं, पर पाप से पराङ्मुख हैं, अनेक विपद् ग्रस्त हैं, पर तपस्वियों के समान धीर हैं—सभी यह सोचते हुये कि धर्मपथ सर्वदा निरापद् और निष्कंटक हैं, बढ़े हुये चले जा रहे हैं—देखते देखते ही संघ भूमि दर्शकों से परिपूरित हो गई, अब सभी

टकटकी लगाये ऋषि के आने की वाट देख रहे हैं—ऋषि आ कर संघ में उपस्थित हो गये, संघ में आये अनेक नवीन स्त्री, पुरुषों ने ऋषि को देखा, कि उन्नत ललाट है, नेत्र समुज्ज्वल आभा से पूरित हैं और चेहरे की आकृति प्रकट कर रही है कि हृदय अलौकिक स्नेह सम्पन्न है—देखते ही हृदय श्रद्धा से भर-पूर हो उठा और सभी उत्सुकता से ऋषि के मुंह की ओर देखने लगे कि क्या उपदेश करते हैं—इसी बीच में एक जिज्ञासु ने नम्रता से कहाः—

सत्यकेतु--मरने के वाद आपने जिन तीन गतियों का वर्णन किया है, उनमें दो तो दूसरी और तीसरी विशेष समुन्नत प्राणियों से सम्बन्धित हैं—पहली गति में आवश्यक रीति से प्रत्येक को पुनर्जन्म लेना पड़ता है, फिर जो रूहों के बुलाने की चर्चा आजकल देश और विदेश में चल रही है, यह क्या बात है? जब सब प्राणी जन्म ले लिया करते है, तब फिर ये रूहें कहाँ से और कैसे आती हैं? आज इसी के सम्बन्ध में कुछ उपदेश हो तो अच्छा होगा।

आत्मवेत्ता—बहुत अच्छा।

बसन्तीदेवी—पुनर्जन्म तो पहली गति प्राप्त प्राणियों के लिये ही आवश्यक बतलाया गया है—फिर यह क्यों सम्भव नहीं कि दूसरी या तीसरी गति प्राप्त प्राणियों की रूहें आती और अपना सन्देश देती हों।

“रूहों के बुलाने का सम्बन्ध पहली गति प्राप्त प्राणियों से है”

सत्यकेतु—यह नहीं हो सकता—दूसरी और तीसरी गति प्राप्त प्राणी इतने ऊंचे और समुन्नत होते हैं कि उनसे अपराध होना असम्भव है, परन्तु रूहें जहाँ रहती हैं वहां ये अपराध भी करती हैं, दण्ड भी मिलता है, इन्हें जेल में भी जाना पड़ता है—सुनो एक रूह ने परलोक के दण्ड विधान की बात इस प्रकार वर्णन की हैः—

“परलोक में जेल”

“मुझको सज़ा मिली—मुझे हथकड़ी नहीं पहनाई गई थी-कारागृह में अन्धकार रहताहै—भोजन देते हैं—गुरु ने मुझको मारा पीटा नहीं, किन्तु दूसरे लोगों ने मार पीटा-पहरे वाले पुरबिया जाति के थे शासन दण्ड चमड़े के थे, और बेत की लकड़ी लाल रंग की थी कारागृह में धर्मशाला के समान तीन मंज़िले मकान हैं। वाहर से वह इतना नयनाह्लादक दिखाई देता है कि जो देखेगा उसको भीतर जाने की इच्छा होगी। वह कई रंग से पुता हुआ है। एक पहरे पर दो आदमी हैं, अन्दर के और वाहर के पहरे वाले के पास घड़ी रहती।

देवप्रिय—क्या वेस्टेंड वाच कम्पनी की घड़ियां थीं?

नोट—प्रश्न पर सब हंस पड़े—और सत्यकेतु ने इस प्रकार फिर वर्णन करना शुरू कियाः—

सत्यकेतु—“बिछाने को कम्वल, ओढ़ने को चद्दर, वनियाइन, टोपी और खद्दर की धोती देते हैं, वनियाइन काले रंग की

और टोपी नीले रंग की होती है*। एक दूसरी रूह ने कहा कि "मुझे (जेल में) बन्द हुये तीन माह हो गये हैं" † एक तीसरी रूह ने कहा कि परलोक में हमको स्वतन्त्रता नहीं रहती, गुरु को प्रसन्न रख कर हमको सब काम करने पड़ते हैं" ‡ एक चौथी रूह ने बतलाया कि "हम यहाँ पर औषधि आदि का सेवन नहीं करते, केवल गुरु मन्त्र व प्रसाद भभूति से रोग मिटाते हैं-भभूति लगाकर मन्त्र नहीं पढ़ते हैं। इससे मस्तक शूल आदि जो जो व्यथायें होती हैं वे सब नष्ट हो जाती हैं। अपरिचित आत्मा कभी कभी भविष्य कथन करते हैं, पर उनका यह कथन असत्य होता है" ÷

तर्कप्रिय—क्या यूरोपियन लोगों की रूहें भी खद्दर ही की धोती पहनती हैं?

नोट—सब लोग इस प्रश्न पर फिर हँस पड़े और सत्यकेतु ने फिर कहना शुरू किया:—

सत्यकेतु—जब परलोक में रूहें अपराध करती हैं-जेल में जाती हैं, तीन तीन मास जेलों में रहती हैं, जब उन्हें वहां स्वतन्त्रता नहीं होती, जब वे वहां बीमार होती हैं, जब वे वहां झूठ बोलती हैं, तो फिर उस परलोक को किस प्रकार द्वितीय तृतीय गति प्राप्त प्राणियों का स्थान कह सकते हैं?

---

* बी० डी० ऋषि मत सुभद्रा पृष्ठ ६५. ६६

† बी० डी० ऋषि मत सुभद्रा पृष्ठ ६६.

‡ बी० डी० ऋषि मत सुभद्रा पृष्ठ ६६

÷ बी० डी० ऋषि मत सुभद्रा पृष्ठ ७३

आत्मवेत्ता—सत्यकेतु का कथन ठीक है-दूसरी और तीसरी गति प्राप्त प्राणियों की रूहों के बुलाने की बात कल्पनातीत है-रूहों के बुलाने के दावेदार पाप पुण्य मिश्रित प्राणियों के रूहों के बुलाने ही का कथन भी करते हैं-एक ऐसे ही रूहें बुलाने के दावेदार का कथन है, "परलोक में नियमोल्लङ्घन के लिये किस तरह की सज़ायें दी जाती है। इसका वर्णन कई आत्माओं ने किया है-इस लोक के दुराचार के लिये तथा परलोक में आज्ञा भंग के लिये जो शासन होता है, बहुत सख़्त तथा निश्चित है"*

इस कथन में रूहों को परलोक नाम की वस्ती में ऐसी रूहों का जाना स्वीकार किया गया है, जो दुराचारी थीं- इसलिये रूहों के बुलाने की सम्भावना—विषय पर पहली गति प्राप्त प्राणियों के ही विचार हो सकता है और इसी पर विचार किया जायगा-यह स्पष्ट है कि पहिली गति प्राप्त प्राणियों के लिये आवागमन अनिवार्य्य वतलाया जा चुका है और रूहों के बुलाने, उनके आने और सन्देश देने की वात विचार कोटि में नहीं लाई जा सकती, जव तक यह स्वीकार न कर लिया जाय कि उनके लिये पुनर्जन्म अनिवार्य्य नहीं है।

पुनर्जन्म प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है"

परन्तु पुनर्जन्म का होना अन्य प्रमाणों के सिवा प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है-अनेक वालकों ने अपने पूर्व जन्म के हालात वतलाये हैं, जिनकी जांच वैज्ञानिक रीति से की गई और उनका वतलाया हुआ हाल ठीक पाया गया उसके कुछेक उदाहरण यहां दिये जाते हैं।

---

* वी० डी० ऋषि व्रत सुभद्रा पृष्ठ ६५

पहली घटना—कुँवर केकई नन्दन सहाय B. A. L. L B. वकील बरेली के एक पुत्र हैं, जिसका नाम जगदीशचन्द्र है और जिसकी आयु ३॥ वर्ष की है, उसने अपने पहले जन्म का हाल इस प्रकार वर्णन किया-उसके पिता का नाम बबुआ पांडे और उसका घर बनारस था उसने बनारस के मकान का हाल भी बतलाया और खास तौर से बड़े दरवाज़े, बैठक और तहख़ाने का ज़िक्र किया, जिसकी एक दीवार में लोहे की अलमारी लगी थी-उसने मकान के सेहन की बात भी बतलाई जिसमें सायंकाल को बबुआजी बैठा करते थे और जहां अन्यों के साथ वे भंग पिया करते थे, उसने यह भी कहा कि बबुआ जी स्नान से पहले शरीर पर मिट्टी मला करते थे और एक फिटन और दो मोटरकार उनके थे-बबुआ जी के दो लड़के थे, और एक स्त्री थी और सब मर गये थे-इस वक्त बबुआजी अकेले हैं—उसने अपनी मां को चाची कहना बतलाया और कहा कि घर में जब और आदमी आया करते थे, तब वह लम्बा घूंघट काढ़ लिया करती था, वही रोटी बनाती थी-इन सब बातों की तसदीक बनारस के प्रतिष्ठित सज्जनों द्वारा की गई और जगदीश को उसका पिता बनारस ले भी गया, जिसने वहां पहुँच कर वहां के जिलाधीश और पुलिस कप्तान तथा अन्य अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों के सन्मुख अपने पहले घर और बनारस के सम्बन्धियों को पहचान लिया और भी इस घटना की पुष्टि में अनेक बातें बतलाईं।*

* देखो लीडर २७ जून, २५ जुलाई १९२६ तथा पैम्फलेट Reincarnation by Kr. Kattai Nandan Sahai p. 1 to 8

दूसरी घटना—एक बालक विश्वनाथ की है-यह भी बरेली का है। इसका पहला जन्म पीलीभीत में हुआ था, इसने वहां के सब हालात वतलाये और उनकी भी उपर्युक्त भांति तसदीक हुई। †

और घटनायें—(३) हीरा कुंवर बरेली-यह पहले जन्म में गोकुल जिला मथुरा में थी और लजवा थी-जांच से इसका वर्णित हाल भी सही पाया गया।

(४) सुन्दरलाल हीरापुर जिला सीतापुर के पहले जन्म के हालात की भी तसदीक कमालपुर से हुई।

(५) व्रज चन्द्रशरण मिरजापुर

(६) बजरंग बहादुर बरेली-इनके भी वतलाये हुए हालात तसदीक किये गये और सही पाये गये। ‡

इन घटनाओं से स्पष्ट है कि पहली गति सब प्राणियों की पुनर्जन्म ही है-जब मरने के बाद प्राणियों का जन्म हो जाता है, तो फिर परलोक नाम से किसी स्थान विशेष की कल्पना और यह भी कल्पना कि उस कल्पित स्थान पर मरे हुये प्राणियों की रूहों का स्टाक रहता है और उसी स्टाक में से

† देखो लीडर १२ तथा ३० अगस्त १९२६ तथा उपर्युक्त पैम्फ़लेट पृष्ठ ९—१४।

‡ देखो उपर्युक्त पैम्फ़लेट पृष्ठ १५—२१।

निमित पुरुष (Medium) के द्वारा किसी रूह का बुला लेने की कल्पना, कल्पना मात्र है।

ऋषि कुमार—यदि रूहों के बुलाने के और उनके सन्देश देने की बात कल्पना मात्र और निस्सार है, तो जो अनेक नर नारी रूहों के बुलाने की बात कहा करते हैं, क्या ये सब मिथ्या वादी और झूठे हैं ? इन रूहों के बुलाने का अमल करने वालों में अनेक वैज्ञानिक हैं, अनेक शिक्षित और विश्वस्त पुरुष हुआ करते हैं, क्या यह सब जान बूझ कर झूठ बोला करते हैं ?

आत्मवेत्ता—यह नहीं कहा जा सकता कि रूह के बुलाने का दावा करने वालों में सब के सब झूठे और चालाक पुरुष ही हुआ करते हैं—कुछ सच्चे भी हुआ करते हैं। परन्तु कुछ चालाक झूठे और पेशेवर भी हुआ करते हैं-हम दोनों प्रकार के नर नारियों का यहां उल्लेख करते हैं—जो लोग सच्चे हैं और नेक नीयती से अमल करते हैं उनसे भूल यह हुआ करती है कि वे मानवी शक्तियों का पूर्ण ज्ञान न रखते हुए और ईश्वर प्रदत्त अलौकिकता से जो उनके मस्तिष्क और चित्त में निहित होती है, अपरिचित रहते हुए जो काम स्वयं उनकी शक्तियों से हुआ करता है, उसे किसी बाह्य साधन से हुआ, समझ लिया करते हैं—और इसी भ्रम में पड़ कर रूहों के बुलाने आदि का विश्वास कर बैठा करते हैं—इस बात का जिक्र हम कुछ विस्तार से कहते हैं, जिससे संघ के नर नारी अच्छी तरह से जो बात सच है, उसे जान सकें।

रूह के बुलाने आदि का विषय परोक्ष ज्ञान से सम्बन्धित है, इसलिए परोक्ष ज्ञान किस प्रकार हुआ करता है पहले इसी बात पर विचार करना चाहिए—परोक्षज्ञान सत्यज्ञान योग की एक विभूति है—पश्चिमी अध्यात्मवाद की परिभाषा में इस विद्या को "परोक्षदर्शन (Clair voyance (clear seeing) intuition, or second sight कहते हैं—प्रत्यक्ष का ज्ञान हमको चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा हुआ करता है। परन्तु परोक्ष का ज्ञान समझा जाता है कि इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता—यह विचार एक दर्जे तक ठीक है, परन्तु शक्तियों के विकसित हो जाने पर मस्तिष्क की शक्तियां भी जिनसे इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाया करता है और जिन शक्तियों को उचित रीति से सूक्ष्म या असली इन्द्रियां भी कहा जाता है, विकसित हो जाती हैं और उनसे परोक्ष का ज्ञान भी प्राप्त हो जाया करता है। हम जिनको, देखना सुनना आदि कहा करते हैं, इनकी असलियत पर विचार करने से पता लगता है कि ये तरतीब के साथ नियत संख्या में पंचभूतों में उठे हुए कम्पनों के प्रभाव के सिवा और कुछ नहीं हैं—उदाहरण के लिये श्रोत्रेन्द्रिय पर विचार कीजिये। इस इन्द्रिय के द्वारा हम वायु से उठी हुई तरंगों की एक लड़ी को ग्रहण किया करते हैं, जो मस्तिष्क में पहुँच कर क्षोभ उत्पन्न करती है और उसी क्षोभ (Disturbance) को हम शब्द या ध्वनि कहा करते हैं—इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय पर विचार कीजिये इस इन्द्रिय के द्वारा हम आकाश (Ether), में वेग पूर्वक उठी

"परोक्ष ज्ञान किस प्रकार का हुआ करता है ?"

हुई नियमित तरंगों को ग्रहण करते हैं और उन्हीं तरंगों के ग्रहण करने मात्र से हम प्रकाश का अनुभव करते हैं।* इसी प्रकार स्पर्श, स्वाद और सूंघना भी इन्हीं तरंगों के भिन्न भिन्न मात्रा में उठने और उनके उन उन इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने के परिणाम हैं—निकटवर्त्ती तरंगों का ग्रहण करना प्रत्यक्ष और दूरवर्ती तरंगों का ग्रहण करना परोक्ष कहलाता है—यह बात अनुभव सिद्ध है कि शब्द, स्पर्श, रूपादि के रूप में परिवर्तित होने वाली आकाशादि के उन तरंगों के ग्रहण करने की योग्यता न केवल भिन्न भिन्न पुरुषों में भिन्न भिन्न प्रकार की होती है, किन्तु एक ही पुरुष में एक समय एक प्रकार की होती है और दूसरे समय में दूसरे प्रकार की—एक पुरुष बहुत समीप के वस्तुओं को देख और बहुत समीप के शब्दों को ही सुन सकता है। परन्तु दूसरा पुरुष उससे कहीं अधिक दूर की वस्तुओं या शब्दों को देख या सुन सकता है—ऐसा क्यों होता है—इसका कारण यह है कि एक पुरुष समीप और दूसरा उसकी अपेक्षा, दूर की तरंगों को ग्रहण करके अधिक दूर की वस्तुओं या ध्वनि को देख या सुन सकता है, यह अन्तर क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि दूसरे पुरुष की ग्राहक शक्ति पहले की अपेक्षा अधिक है—फिर यह अधिकता क्यों है? इसका कारण और एक मात्र कारण, उसके अभ्यास आदि कर्मों की पहले की अपेक्षा उत्कृष्टता है—अच्छा, यदि किसी तीसरे व्यक्ति के अभ्यास आदि कर्म, इस

"तरंगों का विवरण"

*वैज्ञानिकों ने अनुमान किया है कि जब आकाश (ईथर) में ४० मील तरंग उठती हैं, मनुष्य लाल रंग देखा करता है और जब ८० मील तरंगें उठती हैं, तब बेजनी, ४० और ८० मील के बीच में उठती हुई तरंगों से बाक़ी तरंगों से बाक़ी रंग देखे जाया करते हैं।

दूसरे पुरुष की अपेक्षा और भी अधिक श्रेष्ठ हों, तो क्या वह इससे भी अधिक दूर की वस्तुओं या शब्दों को देख या सुन सकेगा? अवश्य देख या सुन सकेगा—यह दूरी जब साधारण मानवी बुद्धि की अपेक्षा से, कुछ अधिक बढ़ जाती है, जिसे सर्व साधारण परोक्ष कहने लगते हैं तो फिर उसी दूरी का, दर्शन या श्रवण द्वारा, ज्ञान प्राप्त कर लेना "परोक्ष ज्ञान" कहलाता है—

मनुष्य अल्पशक्ति है, वह बहुत सी अवस्थाओं में एक विशेष सीमा तक ही, प्रकाशादि की तरंगों को ग्रहण कर सकता है उससे अधिक नहीं। जेम्स ने अपने "मनोविज्ञान" में इस बात को बहुत अच्छी तरह से बतलाने का यत्न किया है * परन्तु इसके विरुद्ध बहुत सी अवस्थाओं में शक्ति के विकसित होने पर मनुष्य अधिक दूर की तरंगों को भी ग्रहण कर सकता है।

"मस्तिष्क से रंगीन किरणों का निकास"

बिना पूछे गाछे एक सीमा तक मनुष्य के भीतरी भावों का पता लगाना भी परोक्ष दर्शन की सीमा के अन्तर्गत है—योग की विभूतियों में परोक्ष दर्शन सम्मिलित है—मनुष्य के मस्तिष्क से;

---

(1) "There is no reason to suppose that the order of vibrations in the outer world is anything like as interupted as the order of our sensations. Betcewn the quickest audible air waves (40,000 vibrations a second at the outside) and the lowest sensible heat-waves [which number probably billions] nature must somewhere have rea lised in numberable intermediary rates which we have no means for perceiving." [Psychology by Prof. James.]

जो उसके भावों और विचारों का केन्द्र होता है, रंगीन किरणें निकला करती हैं, जिन्हें शक्ति विकसित किये बिना, कोई नहीं जान सकता—इन किरणों का कुछ विवरण यहां दिया जाता है:—

[क] जो मनुष्य अत्यन्त आवेश वाले [Passionate] होते हैं, उनके मस्तिष्क से निकलने वाली किरणें गहरे लाल रग की होती हैं।

[ख] परोपकारो पुरुषों की किरणें गुलाबी रंग की होती हैं।

[ग] यश को कामना वाले पुरुषों की किरणें नारंगी रंग की होती हैं।

[घ] गहरे विचारकों की किरणें गहरी नीली रंगत वाली हुआ करती हैं।

[च] कला प्रेमियों को किरणें पीली।

[छ] उद्विग्न और उदास पुरुषों की किरणें धवल [Gray]

[ज] नीच प्रकृति वालों की किरणें मैली, बादामी।

[झ] भक्ति और सदुद्देश वाले पुरुषों की हलकी नीली।

[त] उन्नत शील पुरुषों की हलकी, हरी।

[थ] शारीरिक और मानसिक रोगियों की गहरी हरी होती हैं। इत्यादि इत्यादि।

इन किरणों के देखने का अभ्यास करने पर कोई पुरुष मानवी हृदयों का पाठ करने की योग्यता प्राप्त कर सकता है।

इंगलैण्ड के एक डाक्टर स्टेन्सन हूकर [Dr. Stenson Hooker] ने जो विद्युत प्रकाश और रंग चिकित्सा के विशे-

पक्ष हैं। इसका बहुत सा विवरण दिया है†—इस प्रकार चेहरे को देखकर ज्ञान प्राप्त कर लेना आकृति विद्या [Science of facial Expression] कहलाता है—अनेक वैद्य होते हैं, जो केवल चेहरे को देखकर ही रोग का सब वृतान्त जान लिया करते हैं रोग का वृतान्त वे न रोगी से पूछते हैं और न नाड़ी आदि देखा करते हैं‡।

प्रियव्रत—यदि परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष के सदृश ही होता है जैसा आपने उपदेश किया है तो उसमें मतभेद नहीं होना चाहिये परन्तु परोक्ष ज्ञान की अवस्था यह है कि जितने परोक्ष ज्ञान वतलाने के दावेदार हैं, उन सबकी अलग अलग डफली और अलग अलग राग हुआ करता है। इसका कारण क्या है ?

आत्मवेत्ता- जैसा कि कहा जा चुका है इसके दो कारण हैं, एक तो परोक्ष ज्ञान वतलाने का दावा करने वालों में अभ्यास और ज्ञान की कमी, दूसरे छल कपट, जिसका कुछ विवरण आगे दिया जायगा—इस समय रूहों के बुलाने आदि का प्रकरण पश्चिम से चला है, इसलिये पहले इस बात को देखा जायगा कि वहां यह प्रकरण कैसे चला।

---

† Clairvoyance by R- O. Stockes p. 164.

‡ "अनूप शहर" के पं० गोपालवल्लभ और उनके पुत्र पं० भोलादत्त वैद्य इसी प्रकार के वैद्य थे—केवल आकृति (मुख, नेत्रादि) देखकर ही चिकित्सा करते थे—उनकी इस प्रकार की चिकित्सा का हाल अनूपशहर में प्रसिद्ध है—

पश्चिमी अध्यात्मवाद का जन्म मैसमर† से हुआ समझा जाता है—परन्तु उसी समय से जितने भी सिद्धांत इस [अध्यात्म] वाद से सम्बन्धित बने, उनमें सदैव ज्ञान की कमी से परस्पर विरोध रहा और वे कभी ऐसे नहीं हुये कि संदिग्ध दृष्टि से न देखे जाते रहे हों—मनुष्य की अल्पज्ञता की वजह से आम तौर से उन सिद्धान्तों में जो परोक्ष कहे जाते हैं, मतभेद रहा ही करता है। उदाहरण के, लिये जान बोवी डाड (John Bovee dad) के वैद्युत सिद्धान्त (Electrical theory) को देखें, जिसमें धनात्मक फुफ्फुस और ऋणात्मक रक्त (Positive lungs and negnetive blood) पर विचार हुआ है, तो प्रतीत होता है कि जब इस वाद का प्रचार हुआ तो अनेक स्त्री पुरुष इसे मानने लगे और प्रत्येक प्रकार से उसका समर्थन करने लगे थे यही हाल "ब्रेड"(Braid) के सिद्धान्त का था, जिसके रूह से उसने यह साबित करने का यत्न किया था कि मनुष्य में कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिसकी तोल न हो सकती हो—इसका भी बड़ा मान हुआ परन्तु इन सिद्धान्तों की आयु अधिक नहीं हुई—थोड़े ही अरसे के बाद

"परोक्ष सिद्धांतों में मतभेद"

† मेस्मर [Mesmer] जरमन का एक डाक्टर था, जिसने सन् १७७८ ई० में एक सिद्धान्त निकाला कि एक मनुष्य अपनी शक्ति से एक दूसरे व्यक्ति की इच्छा शक्ति और तन्तुजाल [Nervous system] को प्रभावित कर सकता है—मैसमर का यह वाद मेस्मरइज्म [Mesmerism of Mesmers theory of fluidic emanations or animal magnetism]के नाम से प्रसिद्ध है।

अपने अपने आविष्कर्ताओं के नाम काग़ज़ के पृष्ठों पर छोड़ कर सदा के लिये क्रियात्मक जगत् से ये सिद्धान्त विलीन होगये।

इस ज़माने में अनेक मनुष्य मेस्मर के सिद्धान्त को तन्तु-जालिक रोग‡ समझते हैं और कहते हैं कि उसका जो कुछ भी प्रभाव होता या हो सक्ता है, उसकी व्याख्या शरीरविद्या (Physiology) से की जा सकती है—"मेस्मरइज़्म" रोग हो या न हो, परन्तु यह और इस प्रकार के अनेकवाद सुगमता से समझे जा सकते हैं। यदि मनुष्य अपनी शक्तियों को भली भांति समझ लेवे—अपनी शक्ति के अज्ञान से मनुष्य से जो काम स्वयं होता है, उन्हें यह भूत, प्रेत या बुलाई हुई कल्पित रूहों का किया हुआ समझ लिया करता है।

"मेस्मरइज़्म एक रोग है"

सोमदेव—वे शक्तियां कौनसी हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं जानता और जिनके न जानने से भ्रम में पड़ जाया करता है।

आत्मवेत्ता—शक्तियों के कोश मनुष्य के अन्तःकरण में निहित रहते हैं, उन्हीं के न जानने से मनुष्य भ्रम में पड़ जाया करता है, उनका विवरण इस प्रकार है।

अन्तःकरण चार होते हैं और इसीलिये अन्तःकरणों को अन्तःकरण चतुष्टय भी कहते हैं वे चार अन्तःकरण ये हैं (१) मन (२) बुद्धि (३) चित्त (४) अहंकार इनके कार्य्यों का विवरण इस प्रकार है:—

"अन्तःकरण और उनके नाम"

‡The law of physic phenomena by T. L. Hudson h 22 [Introduction]

"मन का काम"

मन को इन्द्रियों का राजा कहते हैं-उसका काम इन्द्रियों से काम लेना है। दशों ज्ञान और कर्म इन्द्रियां उसके आधीन रहती हैं।

"बुद्धि का काम"

बुद्धि का काम तर्क है-तर्क से सत्यासत्य का निर्णय करना बुद्धि का काम है।

"चित्त का काम"

चित्त के ३ कार्य हैं (१) स्मृति रूप में ग्रहण की हुई बातों को अपने अधिकार में रखना-यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्मृति ३ सूरतों में चित्त में रहा करती है-उसकी पहली सूरत मामूली स्मृति [किसी विषय का याद रखना-Memory] है। दूसरी सूरत संस्कार (Impressions) हैं—मनुष्य के ऊपर अपने कृत्यों से तथा संसार में घटित अनेक घटनाओं से जो प्रभाव पड़ा करते हैं उन्हीं का नाम संस्कार है-तीसरी सूरत कर्मजन्य वासना है, जिसका पहले व्याख्यान हो चुका है—स्मृति इन तीनों सूरतों में चित्त के भीतर रहा करती है, और वह न केवल प्रचलित जन्म ही का संग्रह होती है, किन्तु जन्म जन्मान्तरों में प्राप्त और संग्रहीत हुआ करती है।

(२) चित्त वृत्ति को समीप या दूर भेज कर विषयों का ग्रहण करना।

(३) चित्त क्षोभ (Emotion)

"अहंकार का काम"

अहंकार का कार्य्य यह है कि इसके आने से मनुष्य में ममता की उत्पत्ति होती है अर्थात् उसमें अपने मन के भावों की जागृति होती है।

रमेश—पश्चिमी शरीर शास्त्र में इन अन्तःकरणों का वर्णन इस प्रकार का नहीं देखा जाता।

आत्मवेत्ता—यह ठीक है—पश्चिमी शरीर विद्या (Physiology) बहुत अधूरी है। उसमें केवल स्थूल शरीर का वर्णन है—सूक्ष्म और कारण शरीरों को वह नहीं जानती। हां, पश्चिमी मनोविज्ञान (Physiology) में कुछ वर्णन अन्तःकरणों का है परन्तु जहां चित्त (mind) के कार्य्यों की बात आती है—तो उसे वह भी अलौकिक (mystry) कह कर टाल दिया करती है-अवश्य अब पश्चिम के कुछेक विद्वानों ने अन्तःकरणों के समझने का यत्न किया है—एक विद्वान् ने बतलाया है कि मस्तिष्क दो प्रकारका है* एकका नाम है तार्किक (objective mind) दूसरे का नाम चैत्तिक मस्तिष्क (Subjective mind), उसने दोनों के कार्य्यों का विवरण इस प्रकार दिया है:—

"तार्किक मस्तिष्क के कार्य"

इस मस्तिष्क का कार्य्य क्षेत्र बाह्य जगत् होता है—और कार्य्य के साधन पंच ज्ञानेन्द्रियां हुआ करती हैं, मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये इस मस्तिष्क की सृष्टि हुई है और इसलिये यह अपने प्राकृतिक साधनों से इस मामले में मनुष्यका पथ प्रदर्शन किया करता है-इसका सबसे बड़ा काम तर्क के द्वारा बाह्य उलझनोंका उलझाना है अन्तःकरण चतुष्टयमें

*The Law of psychic phenomana by Htdson p. 29 and 30.

से मन और बुद्धि दोनों के स्थान में यह मस्तिष्क कल्पना पश्चिमी मनोविज्ञान में की गई है—शरीर शास्त्र में इसीको मुख्य मस्तिष्क [cerebum] कहते हैं।

"चैत्तिक मस्तिष्क के कार्य्य"

यह मस्तिष्क अपने कार्य्य क्षेत्र में इन्द्रियेतर साधनों से कार्य्य करता है--इन्द्रियों से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता इसके कार्य्य [ज्ञानप्राप्ति] का साधन अन्तर्मुखवृत्ति [Intuition] है—यह चित्त मोक्ष [Emotions] स्मृति का भंडार है, यह मस्तिष्क अपने उच्च और महान् कार्य्यों को उस समय किया करता है, जब तार्किक मस्तिष्क का कार्य्य बन्द हुआ करता है-स्वप्न अथवा मूर्छित अवस्था में वह मूर्छा चाहे मेस्मरइज्म द्वारा उत्पन्न की गई हो अथवा अन्य किन्हीं कारणों से, यह मस्तिष्क अपने को अच्छी तरह से व्यक्त किया करता है-और उसी अवस्था में इसके कार्य्य आश्चर्य्यजनक हुआ करते हैं। यह विना आंख खोले देखता है, अपनी (चित्त) वृत्तियों को दूर दूर भेज कर वहां का प्रायः यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया करता है—दूसरों के हृदयों को जानकारी भी प्राप्त कर लिया करता है—परोक्ष का ज्ञान प्राप्त कर लेना इसके लिये वैसा ही सुगम है, जैसा तार्किक मस्तिष्क के लिये प्रत्यक्ष का-इसी का नाम परोक्ष दर्शन (clairvoyance) है—

"दोनों मस्तिष्कों का अन्तर"

दोनों मस्तिष्कों का स्पष्ट अन्तर समझ लेने ही से मनुष्य उनके कार्य्यों की सीमा को ध्यान में रख सकता है, इसलिये उनका अन्तर समझ लेना चाहिये—तार्किक मस्तिष्क का काम शारीरिक है

और शरीर से बाहर हुआ करता है और उसके कार्य्य क्षेत्र की सीमा इन्द्रियों की सीमा से सीमित है—परन्तु इसके सर्वथा विपरीत चैत्तिक मस्तिष्क स्थूल शरीर से भिन्न एक पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है और उसके कार्य्य के साधन भी इन्द्रियों से भिन्न स्वतन्त्र और आन्तरिक हैं-हडसन ने इस दूसरे मस्तिष्क को (soul) कहा है*—परन्तु आत्मा तो शरीर और मस्तिष्क सभी का अधिष्ठाता है। उसको एक मस्तिष्क कहना उचित नहीं है—अन्तःकरणों में से चित्त का स्थानापन्न हम इस चैत्तिक मस्तिष्क को कह सकते हैं—यह चैत्तिक मस्तिष्क कब अपने कार्य्यों का संपादन कर सकता है ? —जब मनुष्य धारणा का अभ्यास करके चित्त को एकाग्र कर सकने की सिद्धि प्राप्त कर लिया करता है।

"एक और मुख्य अन्तर"

इन दोनों मस्तिष्कों में एक और भी बड़ा अन्तर है और वह यह है कि जब तक तार्किक बुद्धि काम करती रहती है और मनुष्य जागृतावस्था में रहा करता है, उस समय तक उस पर मेस्मरेज्म या हिपनाटइज्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् कोई स्त्री पुरुष यह चाहें कि उस पुरुष को, जिसकी तार्किक बुद्धि बलवती है और अपना काम दृढ़ता के साथ करती है, मेस्मरइज्म आदि से मूर्छित कर देवें तो यह सम्भव नहीं है—हां, वह पुरुष अवश्य मूर्छित हो सकता है, जिसकी तार्किक बुद्धि बलहीन और इच्छा शक्ति को दृढ़ बनाने में असमर्थ सी है--

---

*The Law of psychic phenomena by Hudson p. 30

तार्किक बुद्धि का काम बन्द हो जाने पर चैत्तिक मस्तिष्क अन्यों के प्रभावों को चाहे वे कितने ही निकम्मे क्यों न हों, बिना किन्तु परन्तु किये, ग्रहण कर लिया करता है—इस अवस्था में उससे यदि कोई कहे कि तुम बन्दर हो, कुत्ते हो, या बिल्ली हो, तो वह उसे तत्काल अगर मगर किए बिना स्वीकार कर लेगा इत्यादि ?

अन्त करणों या मस्तिष्कों के कार्य्य, उनकी शक्ति और उनके अन्तर को अच्छी तरह समझ लेने और ध्यान में रखने से मनुष्य कभी गलती में नहीं पड़ सकता।

तपोनिधि—रूहों के बुलाने का अमल करने वाले क्या केवल इन अन्तःकरणों की शक्तियों को न जानने ही से भूल में पड़ जाया करते हैं ?

आत्मवेत्ता—एक कारण इसका और भी है और वह है मनुष्य के शरीरों का शुद्ध और वास्तविक ज्ञान का अभाव। यदि ये दोनों कारण दूर कर दिये जावें, तो फिर मनुष्य रूहों के बुलाने और उनके संदेश लेने के भ्रम में नहीं पड़ सकता।

तपोनिधि—शरीरों का शुद्ध और वास्तविक ज्ञान क्या है ?

आत्मवेत्ता—इसका कुछ ज़िक्र तो इससे पहले किया जा चुका है।

*देखो इसी पुस्तक के दूसरे अध्याय का दूसरा परिच्छेद—

इन शरीरों के सम्बन्ध में एक ख़ास बात, जिसको पहले नहीं कहा गया है, वह यह है कि ये तीनों (१-स्थूल, २-सूक्ष्म, ३-कारण) शरीर पृथक् पृथक् एक दूसरे से सर्वथा अलग होकर कुछ काम नहीं कर सकते। रचयिता ने इनकी सृष्टि मिल कर काम करने के लिये ही की है—कारण शरीर विवादास्पद नहीं, इस लिये उसके सम्बन्ध में और कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है।

"तीनों शरीर मिल कर काम करने के लिए बने हैं"

सूक्ष्म और स्थूल शरीर के सम्बन्ध में यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि ये दोनों एक दूसरे से पृथक् होकर क्रियात्मक जगत् में कुछ नहीं कर सकते, सूक्ष्म शरीर में इन्द्रियों की असली शक्ति है और स्थूल शरीर में इन्द्रियों के गोलक हैं। शक्ति और गोलक जब दोनों मिलें, तभी काम हो सकता है, अन्यथा नहीं।

"स्थूल और सूक्ष्म शरीर एक दूसरे से स्वतन्त्र होकर काम नहीं कर सकते"

चारुदत्त—कहा जाता है कि स्वप्नावस्था में स्थूल नहीं अपितु केवल सूक्ष्म शरीर ही काम किया करता है।

आत्मवेत्ता—स्वप्नावस्था क्रियात्मक जगत् नहीं है—क्रियात्मक जगत् का सम्बन्ध केवल जागृतावस्था ही से है और जागृतावस्था में दोनों शरीर मिल कर ही काम किया करते हैं। उदाहरण के लिये आंख को लो—यदि सूक्ष्म शरीरान्तर्गत नेत्र शक्ति में कुछ विकार आ चुका है, तो आंखों के गोलकों के अच्छे खासे होने पर भी मनुष्य नहीं देख सकता,

इसके विपरीत यदि नेत्र शक्ति ठीक है परन्तु गोलक विकृत है तब भी देखने का काम बन्द ही रहेगा। यही अवस्था अन्य इन्द्रियों की समझनी चाहिये।

"सूक्ष्म शरीर की सत्ता"

सूक्ष्म शरीर क्या चीज़ है, इसके समझने में दो प्रकार की भूलें हुआ करती हैं। एक प्रकार की भूल करने वाले समझा करते हैं कि सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का उसी आकृति वाला सूक्ष्म शरीर है उसके हाथ, पांव, कान, नाक आदि सब कुछ हैं, परन्तु बहुत छोटे पैमाने में और यह कि जब मनुष्य उत्पन्न होता है, तो उसमें मुंह के रास्ते से यह सूक्ष्म शरीर (Miniature) प्रवेश करता है। जब वह मरता है, तो नंगे बालक के सदृश उसके शरीर से मुंह ही के रास्ते से निकल जाया करता है।*

दूसरी प्रकार की भूल करने वाले उसको स्थूल शरीर के खोल की भांति स्थूल शरीर के चारों ओर माना करते हैं और उसे तारों से सम्बन्धित शरीर (Astral body) कहा करते हैं। इस विचार का प्रारम्भ तो योरुप के एक दार्शनिक "पैरेसेलसैस" (Parecelsas) ने उन्नत किया था परन्तु अब कुछ सम्प्रदायों में आम तौर से माना जाने लगा है। ‡

बसन्तीदेवी—मैंने यह सुन रक्खा है कि ये तीनों शरीर

---

* Crawley's Idea of soul P, 207 तथा आत्म दर्शन पृष्ठ २६, (पहला संस्करण)

† आत्मदर्शन पृष्ठ १८८, १८९।

‡ उन (रूहों) के उस (परलोक निवास की) अवस्था में हस्तपादादि अवयव रहते हैं—उनका सूक्ष्म देह स्थूल देह को प्रतिछाया है—[वी० डी० ऋषि कृत सुभद्रा पृष्ठ ५०]

पृथक् पृथक् हैं और स्वतन्त्रता से एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हो कर अपना अपना काम अपने अपने लोक में किया करते हैं—कहा जाता है कि:—

लोक तीन हैं:—(१) स्थूल जगत् (Physical world) (२) इच्छा लोक (Desire world) (३) मानस लोक (Mental world)—ये तीनों पृथक् पृथक् नहीं है, किन्तु तीनों एक दूसरे में समाविष्ठ (Interpenetrating) हैं—इसी प्रकार शरीर भी तीन हैं। जिनमें से एक एक शरीर का सम्बन्ध एक एक लोक से है। शरीर एक प्रकार का यन्त्र है, जिसका काम यह होता है कि वह चेतना का सम्पर्क उस लोक से करा देवे, जिससे उसका सम्बन्ध है। उदाहरण के लिये स्थूल शरीर को देखिये। इसका काम यह है कि स्थूल संसार का ज्ञान जीव को करा देने का माध्यम बने। इसी प्रकार दूसरा सूक्ष्म शरीर (Astral body) दूसरे सूक्ष्म जगत (The intermediate or astral world) की जानकारी करा देने का साधन है—यह दूसरा शरीर अभी पूर्ण विकास नहीं प्राप्त कर चुका है—अन्यथा जिस प्रकार ५ ज्ञानेन्द्रियों से स्थूल जगत प्रत्यक्ष हो जाता है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर से सूक्ष्म जगत प्रत्यक्ष हो जाता है। इन ५ ज्ञानेन्द्रियों के सिवा इसी प्रकार की दो इन्द्रियां मस्तिष्क में और हैं:—

“तीन लोक और तीन शरीर”

(१) पीट्यूटेरी शरीर (Pituitary body) *

* मस्तिष्क की एक ग्रन्थि है, जिसे (Pituitary gland) कहते हैं। पीट्यूटेरी शरीर (Pituiatry body) एक कल्पित शरीर है, जिसकी इस समय कोई हर्त्ता नहीं है—कारण शरीर को ठीक न समझने से शायद यह तीसरे शरीर की कल्पना की गई है।

(२) पीनियल ग्रन्थि (Pineal Gland)*

इनको शरीर वैज्ञानिक कहते हैं कि ये इन्द्रियां थीं, परन्तु अब ये बेकार (Vestigial) हैं। परन्तु कुछ लोगों का विचार यह है कि अवश्य पीनियल ग्रन्थि (PinealGland) मनुष्य की तीसरी आंख थी और यह कि अब आंख का काम नहीं देती, परन्तु वे कहते हैं कि इसका विकास हो जाने के बाद इस इन्द्रिय का काम यह होगा कि इसके द्वारा एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क में विचार-परिवर्तन हुआ करेगा। और इसी प्रकार विकास के बाद पीट्यूटेरी शरीर (Pituitary body) का काम यह होगा कि उससे दूसरा सूक्ष्म (Astral) जगत् स्थूल जगत् की तरह प्रत्यक्ष होजाया करेगा-इस समय हमारा दूसरे जगत् से, स्वप्न के द्वारा सम्बन्ध हुआ करता है—परन्तु इस इन्द्रिय के विकसित होने पर जागृतावस्था में भी सम्बन्ध हो सकेगा-सूक्ष्म शरीर दिन और रात बराबर काम किया करता है। रात्रि में सूक्ष्म (दूसरा) जगत् इसके कार्य का क्षेत्र हुआ करता है, जिसे हम स्वप्न के द्वारा जाना करते हैं और दिन में वह इच्छा लोक में काम करने के लिये स्थूल शरीर को उत्तेजना दिया करता है—तीसरा लोक "मानस लोक" है—हम प्रथम के दो लोकों की भांति इस तीसरे लोक में भी रहा करते हैं। जब हम विचार करते हैं, तो उस समय हम सूक्ष्म शरीर वाली प्रकृति से भी अधिक सूक्ष्म प्रकृति (Matter) को

* मस्तिष्क की यह एक ग्रन्थि है—प्रसिद्ध दार्शनिक रकोर्ट ने इसको जीवात्मा का निवास स्थान बतलाया है—(आत्मदर्शन पृष्ठ १६१-१६२ फुट नोट)

प्रयोग में लाते हैं, जिसे प्रोफेसर किंगडन क्लीफोर्ड (Prof. kingdon clifford) ने "मानस द्रव्य (Minc vtuff) का नाम दिया है—जिस प्रकार आकाश (Ether) में तरंगों के उठने से प्रकाश का ज्ञान होता है; इसी प्रकार मनोभावों के परिवर्तन का ज्ञान मानस द्रव्य में उठी तरंगों के द्वारा हुआ करता है। यह मानस द्रव्य भी, जिसे चेतना का यन्त्र कह सकते हैं, बहुत कम विकसित है, परन्तु इसका भी विकाश हो रहा है और पूर्ण विकसित हो जाने पर हम सूक्ष्म शरीर को भी पीछे छोड़ सकेंगे और उस समय हमें मानस जगत् का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त हो सकेगा—यही वह जगत् है, जिसे मरने के बाद स्वर्ग कहा करते हैं—इन्हीं तीन लोकों को "भूलोक", "भुवः-लोक" और "स्वः (स्वर्ग) लोक" भी कहते हैं।*

आत्मवेत्ता—जो उदाहरण सुनाया गया है, उसमें स्वयं स्वीकार किया गया है कि सूक्ष्म और पीट्युटेरी दोनों शरीर अभी अविकसित अथवा अपूर्ण विकसित हैं और उनके तथा उनसे सम्बन्धित लोकों के जानने के साधन पीनियल ग्रन्थि और पीटयुटेरा ग्रन्थि तो अभी सर्वथा अविकसित हैं—ऐसी दशा में इन स्वतन्त्र शरीरों और उनसे सम्बन्धित तीन लोकों की कल्पना, कल्पना मात्र है†—वास्तविक और क्रियात्मक

---

*Man's life in the three world by Dr, Annih Besent

† प्लेटों ने भी एकत्व (Trinity) की कल्पना की थी, उनके नाम उसने (१) जीवात्मा (Soul) (२) आत्मिक शरीर (Soul body] (३) पार्थिव शरीर (Earth body) रक्खे थे। स्वीडनबर्ग, जो अपने

जगत् इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पनाओं ने ही रूह बुलाने आदि की कल्पनायें प्रचलित करदी हैं, ऐसा प्रतीत होता है—सूक्ष्म और स्थूल शरीरों के यथार्थ सम्बन्ध के जानने और समझ लेने से यह कल्पितवाद सर्वथा निराधार प्रतीत होने लगता है, सुतराम् कथित भूलों के दूर कर लेने और मस्तिष्कों के कार्य्य और शरीरों के सम्बन्ध को ठीक समझ लेने से मनुष्य भूत प्रेत, रूहों के बुलाने आदि के भ्रम जाल से मुक्त हो जाता है—अस्तु अब हम देखना चाहते हैं कि रूहों के बुलाने आदि के सम्बन्ध में जो कतिपय प्रयोग किये जाते हैं, उनका समाधान किस प्रकार उपर्युक्त ज्ञान प्राप्ति से किया जा सकता है।

—:o:—

आपको ईश्वर का नियत किया हुआ जेरोशलीम के लिये पैगम्बर समझा करता था (आत्मदर्शन पृठ १६७—१६८) उसने भी ३ और शरीरों को एक और प्रकार मे वर्णन किया है, वह कहता है कि प्रत्येक मनुष्य के लिये ३ शरीर मिले हैं।

१—आन्तरिक पुरुष (Internal ma)

२—संयुक्तिक पुरुष (Rational ma)

३—बाह्य पुरुष (External man)

उसने जीवन को भी तीन भागों में विभक्त किया है:—

(१) प्राकृतिक (२) आत्मिक (३) दिव्य (Celestial The Law of psychic Phenomina by Hudson P. 27 aud 28

दूसरा परिच्छेद

रूहों के बुलाने के साधनों का विवरण।

रूहों के बुलाने के लिये निम्न साधन प्रयोग में लाये जाया करते हैं:—

"रूहों के सन्देश लेने का साधन"

(१) प्लैनचिट। (२) स्वयं प्रेरित लेख (Automatic writing)। (३) मेज़ का हिलना (Tab'e Tilting) (४) उज्ज्वल स्वप्न। (५) परचित्त ज्ञान (Telepathy)। (६) भूत, प्रेत (Ghost) अब इनमें से प्रत्येक का पृथक् पृथक् कुछ विवरण दिया जाता है:—

"प्लैनचिटका कार्य्य"

"प्लैनचिट" एक हृदयाकार लकड़ी का टुकड़ा होता है, जिसके नीचे दो छोटे पहिये और एक पेन्सिल लगे होते हैं और उन्हीं के सहारे वह भूमि से उठा हुआ रहता है उसके ऊपर दोनों किनारों पर दो पुरुष अपना अपना एक हाथ रखते हैं, इस प्रकार हाथों के रखने से कोई शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे "प्लैनचिट" नीचे रक्खे हुये काग़ज़ पर घूमने लगता है और उसके इस प्रकार घूमने से कुछ अक्षर या चिन्ह काग़ज़ पर बन जाते हैं—रूहों के बुलाने वालों का कथन है कि "प्लैनचिट" से काग़ज़ पर जो कुछ लिखा जाता है, वह बुलाई हुई रूहों की प्रेरणा का परिणाम हुआ करता है, परन्तु यह उनका भ्रम मात्र है।

एक विद्वान "टुकेट" ने प्लैनचिट के कार्य्य के लिये सम्मति दी है उसके लेख शिराओं पर काम करने वाले स्वभाव [Heurotic temperament] और स्वयं प्रेरणा (Auto suggestion) की अवस्था के फल होते हैं * ।

"इसके सम्बन्ध में टुकेट की सम्मति"

मनुष्य अपनी शक्तियों को जाने और उन्हें काम में ला सके इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये महामुनि पतंजलि ने योग की शिक्षा का विस्तार किया था। अभी तक हम थोड़ा बहुत ज्ञान पहले मस्तिष्क का रखते हैं, जो इच्छा शक्ति का केन्द्र है और जिसके द्वारा इरादा करके कार्य्य किये जाया करते हैं। परन्तु दूसरे मस्तिष्क के कार्य्यों से, जिसका सम्बन्ध अनिश्चित प्रभावों के अंकित करने से है, आम तौर से मनुष्य अनभिज्ञ देखे गये हैं, जैसा कि कहा जा चुका है—हमारे अन्तःकरणों में चित्त एक ऐसी वस्तु है, जिसमें हमारे जन्म—जन्मान्तर के किये हुये कार्य्यों की वासना और प्राप्त किये हुए ज्ञान की स्मृति अंकित रहती है—साधारणतया हम उनसे अनभिज्ञ होते हैं। परन्तु प्रकरण उपस्थित होने पर चित्त अपने वासना स्मृति के अपरिमित कोष से उसी प्रकार के विचार अन्तःकरण में उत्पन्न कर दिया करता है। उन विचारों से केवल स्थूल दृष्टि रखने के कारण हम अनभिज्ञ होते हैं, इसलिये उनको अपने ही मस्तिष्क से निकला हुआ न समझ कर किसी न किसी वाह्य निर्मा-

"उसका असली कारण"

* Evidence for the supernatural by Tuckilt p.8999

तृत्व (Agency) को उसका कारण ठहराने की खोज किया करते हैं-इन्हीं खोज किये हुये कल्पित कारणों में से एक कारण रूहों के बुलाने का भी है।

"प्लैनचिट" से किये हुये प्रश्नों के उत्तर जो लिखे जाया करते हैं, वे वही हुआ करते हैं, जो उस पर हाथ रखने वालों में से किसी न किसी के अन्तःकरण में उपर्युक्त भांति निहित हुआ करते हैं, परन्तु यह सम्भव है कि कोई प्रश्न इस प्रकार का हो जिसका उत्तर दोनों (हाथ रखने वालों) में से किसी के अन्तःकरण में भी न हो, यदि ऐसा हुआ तो उसका उत्तर "प्लैनचिट" से भी नहीं लिखा जायगा—अवश्य हाथ रखने से प्लैनचिट में गति आजायगी, परन्तु उससे कागज पर सिवाय उल्टी सीधी रेखायें खिचने के लिखा कुछ भी न जायगा—

"प्लैनचिट से क्या लिखा जाता है ?"

जैसा कि रूहों के बुलाने का अमल करने वाले कहा करते हैं, यदि 'प्लैनचिट' के अक्षर रूहों की प्रेरणा के परिणाम होते, तो विना किसी के "प्लैनचिट" पर हाथ रखने के प्लैनचिट स्वयं उन रूहों की प्रेरणा से गति में आकर उत्तर लिख दिया करता, परन्तु देखा यह जाता है कि जब तक उस पर हाथ न रक्खे जावें, वह गति शून्य ही बना रहता है।

"क्या रूहें प्लैनचिट द्वारा उत्तर देती हैं ?"

एक उदाहरण यहां दिया जाता है, जिससे प्रकट हो जावेगा कि रूहों के न रहने पर भी "प्लैनचिट" कुछ लिख दिया करता है:—

"एक उदाहरण"

इङ्गलेण्ड के एक विद्वान्—"हेनस" ने लिखा है कि उसकी नातेदार एक स्त्री की कन्या की मृत्यु हो गई—यह स्त्री "प्लैन-चिट' द्वारा अमल किया करती थी-१९०२ ई० की घटना है कि "हेनस" ने "प्लैनचिट" द्वारा उसे बुलवाया। वह अपने साथ एक अमरीकन पुरुष के रूह को भी लेती आई, जो "हेनस" का मित्र था और अमरीका के पश्चिमी सीमा में स्थिति "लोफरोय" (mount Lafroy) नामक पर्वत से गिर कर १८९६ ई० में ३० वर्ष की आयु में मर चुका था। "हेनस" का कथन है कि स्त्री ने उसे इस मृत पुरुष का उससे परिचय कराया-परिचय होने पर "हेनस" ने उस पुरुष की रूह से पूछा कि जब वह पहाड़ से गिर कर मरा था, उसकी आयु क्या थी? उत्तर मिला कि ३३ वर्ष की परन्तु जब "हेनस" ने कहा कि मरते समय उसकी आयु ३० वर्ष की थी, तो रूह ने उत्तर दिया कि उसका अभिप्राय इस समय की आयु से है, परन्तु "हेनस" ने कहा कि इस समय की आयु तो ३६ वर्ष की होनी चाहिये, तो इस प्रकार की ज़िरह करने से दोनों रूहें असन्तुष्ट हुईं-इसके बाद "हेनस" ने पूछा कि अच्छा उस पहाड़ का नाम क्या था, जिससे गिर कर मृत्यु हुई थी तो "प्लैनचिट" ने लिख दिया कि "दोनों रूहें असन्तुष्ट हो कर चली गईं" ‡—

उदाहरण से स्पष्ट है कि "प्लैनचिट" से सही उत्तर नहीं मिला और यह भी कि यह शब्द कि "दोनों रूहें असन्तुष्ट हो

‡ But the planchette only recorded the fact that both spirits had gone away in disgust." (The Belief in personal immortality by E. S. P. Haynes p. 93.)

कर चली गई" "प्लैनचिट" ने रूहों के चले जाने के बाद लिखे, तो बतलाना चाहिये कि यह लेख किसकी प्रेरणा का परिणाम था। वह स्वयं तो लिख नहीं सकता था और रूहें "दाल, फे, ऐन [1]" हो चुकी थीं-स्वीकार करना पड़ेगा कि यह उत्तर उसी का था, जिसका हाथ "प्लैनचिट" पर रक्खा हुआ था और इस प्रकार के उत्तर आम तौर से उसी समय दिये जाया करते हैं, जब अमल करने वाला पूछने वालों के प्रश्नों से तंग आकर अपना पीछा छुड़ाना चाहा करता है-अस्तु, यह तो हुआ अमल का एक पहलू। परन्तु दूसरा पहलू है कि अनेक प्रश्नों के सही उत्तर भी प्राप्त होते हैं--तो भी जितनी अधिक इस मामले में खोज की जायगी, फल यह निकलेगा कि उत्तर चाहे सही हो चाहे गलत, वह होता वही है, जो "प्लैन-चिट" पर हाथ रखने वाले के हृदय में हुआ करता है--इसी परिणाम को स्पष्ट करने के लिये दो संघों का विवरण दिया जाता है।

'दो संघों का विवरण'

इन संघों में रूहों के बुलाने और उसके सन्देशों की असलियत प्रकट करने के लिये ही एक एक व्यक्ति ने प्रश्न किये थे—इनमें से पहले संघ में आर्य्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की रूह को बुलाया गया और उनसे कतिपय संघ में उपस्थित पुरुषों की ओर खास खास टाइप के साधारण स्थिति के प्रश्न किये गये और उत्तर प्राप्त किये---ये सब प्रश्न ऐसे ही थे, जिनके उत्तर प्रयोग कर्ताओं की ओर से दिये जा सकते थे--

[1] दाल + फ़े + ऐन = दफ़े = दूर।

परन्तु एक व्यक्ति ने ऋग्वेद के उस हिस्से का एक मंत्र पढ़ कर जिसका भाष्य स्वामी दयानन्द जी नहीं करने पाये थे, उसके अर्थ पूछे-यह बात निमित्त पुरुषों की योग्यता और ज्ञान से बाहर थी। इसलिये "प्लेनचिट" से मंत्रार्थ नहीं लिखे गये यह हालत प्रायः प्रत्येक संघ में उपस्थित की जा सकती है। यदि प्रश्न करते समय सावधानी रक्खी जावे, और सोच लिया जावे कि ऐसे ही प्रश्न किये जावेंगे, जिनके उत्तर देने प्रयोग कर्ताओं की योग्यता और ज्ञान से बाहर हों, यदि सचमुच स्वामी दयानन्द की रूह आई होती, तो स्वामीजी वेद के प्रगल्भ पण्डित थे। उनकी रूह को किसी मंत्र का अर्थ कर देना क्या मुशकिल था-एक दूसरे संघ में प्रश्नकर्ता ने उसी संघ में उपस्थित एक जीते जागते व्यक्ति को मरा हुआ प्रकट करके उसकी रूह बुलाने की इच्छा प्रकट की—निमित्त पुरुष इस चालाकी से वाकिफ़ नहीं थे, जो उनके साथ की गई थी, इसलिये अपने नियमों के अनुसार उन्होंने थोड़ी देर के बाद उत्तर दिया कि रूह आगई-उससे कुछ प्रश्न किये गये और उत्तर भी प्राप्त किये गये, परन्तु वे उत्तर उससे सर्वथा भिन्न थे—जो वह ज़िन्दा पुरुष, जिसकी रूह की ओर से उत्तर दिया जाना प्रकट किया गया था, देता—भेद खोल देने पर प्रयोग कर्ता गण बहुत असन्तुष्ट होकर चले गये—इस दूसरे संघ की कार्य्य प्रणाली से स्पष्ट हो गया कि कोई रूह कहीं से न आती और न आ सकती है, यह केवल भ्रम ही भ्रम है-भला जब एक

पुरुष संघ में मौजूद है और मरा भी नहीं है, तो फिर उसकी रूह कहां से आ गई—"प्लैनचिट" की ओर से सचाई तो यह होती कि कितनी वार भी प्रार्थना करने पर उस ज़िन्दा पुरुष की रूह न आती—परन्तु जीते जागते पुरुष की रूहों के भी आजाने से रूह बुलाने की असलियत दिन के प्रकाश की भांति खुल गई।

"रूहें बोलती क्यों नहीं"

इसके सिवा एक बात और भी विचार करने के योग्य है कि ये आने वाली रूहें लिखवा कर ही क्यों उत्तर दिया करती हैं, मुंह से बोलती क्यों नहीं—यदि अपनी सूरत न दिखावें, न सही, परन्तु बोल कर उत्तर क्यों नहीं दे सकतीं—जब रूहें परलोक में अन्न खाती हैं, शौच जाती हैं, वस्त्र पहनती हैं, शिक्षा पाती हैं, गुरु की देख रेख में रहते हैं,* जब वे वहां परस्पर हंसी और मसखरी करती हैं† जब वे वहां चोरी चुगली भी करती हैं‡ जब वे वहां झूठ बोलती हैं—जब उन्हें दण्ड भी भोगना पड़ता है ÷ जब उनकी भूतों के सदृश आवाज़ (Ghostly Voice) भी "चीं चीं" (Twitter) करवे अथवा धीमी बरबराहट (Thin murmur) की तरह होती है। + अथवा उनकी आवाज़ आजकल के आत्मवादियों के आविष्कारानुसार, कानाफूसी (whisper) की भांति है, जब उनका वजन भी ३-४ औंस का

* वी० डी० ऋषि कृति सुभद्रा पृष्ठ ५६, ५७, ५८।

† " " " ८५।

‡ वी० डी० ऋषि कृत सुभद्रा पृष्ठ ७५।

÷ " " " ७३।

+ Crowley s, idea of soul P. 20.

बतलाया जाता है, तो, फिर वे संघों में आकर क्यों नहीं बोलतीं—यहां आकर धीरे धीरे ही बोला करें, कानाफूसी ही किया करें—जब उनके हाथ पांव होते हैं, तो यह तो कोई कल्पना ही नहीं कर सकता कि मुँह न होता होगा—जब मुँह होता है, तो फिर उनको उसके खोलने और जुबान हिलाने में क्यों संकोच करना चाहिये—जब उनके इस प्रकार चुप्पी साधने से उनकी हस्ती ही में सन्देह किया जा रहा है, तब तो उन्हें मुँह खोल कर कम से कम अपनी हस्ती तो साबित ही कर देनी चाहिये। एक उर्दू के कवि ने लिखा है:—

कम बोलना अदा है हरचन्द, पर इतना—
मुंद जाय चश्मे आशिक तो भी वो मुंह न खोले*

"माइर्स" ने इस प्रकार के लेख को, एक प्रकार का स्वयं प्रेरित कार्य (A form of Motor automatism), ठहराया है और स्वीकार किया है कि लेख प्रणाली के अभिव्यक्त बाह्य व्यवसाय से यह सिद्ध नहीं होता कि लेख से प्राप्त संदेश स्वयं लेखक के मस्तिष्क से निकले हुये नहीं हैं। हां उसने इस बात को अवश्य स्वीकार किया है कि अनेक सूरतों में सन्देश ठीक उतरते हैं।*

"स्वयं प्रेरित लेख" Autimatic writing"

एक और पश्चिमी लेखक ने लिखा है कि यदि लेख प्रणाली का अच्छा खासा अभ्यास किया जावे, तो अभ्यासी लेखक निपुण बन सकता है और उसके संदेश भी ठीक उतर सकते हैं—उसने एक बार इसका अभ्यास शुरू भी किया था—अभ्यास इस

* Haman Persouality by Myres Vol. I p. 27.

प्रकार से किया कि वह अपनी आंखें बन्द करके बैठ गया और अपने हाथ में क़लम को छोड़ दिया कि जिस प्रकार चाहे काग़ज़ पर घूमे—क़लम घूमने लगा, और कुछ अनमिल बेजोड़ विचार प्रदर्शक वाक्य लिखे गये। अभ्यासकर्त्ता को स्वीकार है कि उसका मन बिलकुल निर्विषय नहीं था और यह भी कि जो वाक्य लिखे गये, वे उसके मस्तिष्क की भीतरी तह के प्रभावों के परिणाम थे। उसने यह भी लिखा है कि उसने केवल १० मिनट यह अभ्यास किया था। यदि वह पूरा दिन इसमें लगाता, तो शायद बहुत कौतूहलप्रद परिणाम निकलता।

"उदाहरण"

अस्तु, यहां हम एक उदाहरण देते हैं, जो स्वयं माइर्स से सम्बन्धित है और जिससे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि स्वयं प्रेरित लेख सदैव ठीक ही नहीं हुआ करते "माइर्स" ने एक चिट्ठी लिखी और उसको दो तीन लिफ़ाफ़ों में बन्द करके मुहर लगा कर एक बैंक में सुरक्षित रखने के लिये दे दी, जिससे उसका मज़मून प्रकट न होने पावे—तत्पश्चात् स्वयं प्रेरित लेख का एक संग्रटित किया गया कि उस चिट्ठी का मज़मून मालूम किया जावे—एक "वीराल देवी" थी, जो अमल करने वाली थी—देवी ने स्वयं प्रेरित लेख के द्वारा चिट्ठी का मज़मून काग़ज़ पर लिख लिया और उस लेख को उन्होंने संघ में प्रकट कर दिया, उसके बाद १३ दिसम्बर १९०४ को वह लिफ़ाफ़ा बैंक से मंगा कर खोला गया और चिट्ठी पढ़ी गई, तो प्रकट हुआ कि चिट्ठी का असली

*The Belief in personal immortality by Haynes p. 94 and 95.

मज़मून और वह मज़मून जो स्वयं प्रेरित लेख से प्राप्त किया गया था. एक दूसरे से असर्वथा विभिन्न थे इस लेख प्रणाली का अभ्यास बहुत सुगमता से हो जाता है। अभ्यास प्रणाली इस प्रकार है:—

"स्वयं प्रेरित लेख का अभ्यास किस प्रकार किया जाता है"

अभ्यास करने वाले को शान्त चित्त होकर एक मेज़ के पास बैठना चाहिये। पैन्सिल हाथ में हो और काग़ज़ मेज़ पर रक्खा हुआ हो। और मस्तिष्क को इच्छा शून्य रखने का यत्न करना चाहिये। पैन्सिल हाथ में इस प्रकार रखनी चाहिये, मानो यह कुछ लिखना चाहता है—प्रारम्भ में हाथ में कुछ कपकपी सी अनुभव होती है। तब पैन्सिल लिखने लगती है—उसके बाद लिखना प्रारम्भ हो जाता है। इस अभ्यास में कुछेक सप्ताह लगते हैं—अभ्यास करने वालों को सप्ताह में दो चार अभ्यास करना अच्छा होता है। *

"इस मंत्र के लेख ठीक भी होते हैं

ऊपर जो उदाहरण दिया गया, उससे लेख प्रणाली का अंधेरा पहलू प्रकट होता है परन्तु बात ऐसी नहीं कि उसका एक ही अंधेरा पहलू हो—"सर आलिवरलाज" ने अपने एक पुस्तक में अनेक उदाहरण दिये हैं, जिनसे उसका दूसरा पहलू भी प्रकट होता है। अर्थात् उसके लेख यदि कभी असत्य होते हैं, तो कभी सत्य भी उसी पुस्तक में से एक दूसरे पहलू का प्रकट करने वाला उदाहरण दिया जाता है:—

*Automatic writing by A. Verner p. 11.

एक वार "सन्टेन्टन मोसेज़" महाशय डाक्टर "स्पीर" के

"एक दूसरा उदाहरण" पुस्तकालय में बैठे स्वयं चलद् यन्त्र के अदृश्य लेखक से बात कर रहे थे।

नोट—वह अदृश्य लेखक पहले "फिन्यूइट" (Phinuit) परन्तु अब "रेक्टर" (Rector) अपना नाम बतलाता है—उन का एक प्रश्नोत्तर इस प्रकार है:—

मोसेज़—मुझे बतलाया गया है कि आप पढ़ सकते हैं, क्या यह ठीक है और क्या आप कोई पुस्तक पढ़ सकते हैं?

नोट—मोसेज़ अपना प्रश्न मुख से कहते थे, रेक्टर का उत्तर स्वयं चलद् यन्त्र से लिखा गया था। मोसेज़ का कथन है कि स्वयं चलद् यन्त्र की लेख प्रणाली बदल गई, क्योंकि पहले कोई और लिखता था, अब उसका अदृश्य लेखक रेक्टर है।

रेक्टर—हां, कठिनता से।

मोसेज़—क्या आप कृपा करके एनील्ड (Aeneild) के प्रथम पुस्तक की अन्तिम पंक्ति लिखेंगे?

रेक्टर—प्रतीक्षा करो—(फिर उसने लिख दिया)
"Omnidas errantem terris are fluctibus aestas"

मोसेज़—(यह ठीक था) ठीक ऐसा ही है क्या आप पुस्तकके कोष्ठ तक जायंगे और दूसरे कोष्ठके अन्तिम पुस्तक के ९४ वें पृष्ठ का अन्तिम वाक्य पढ़ेंगे? (मोसेज़ ने लिखा है कि उन्होंने यह प्रश्न अनायास कर दिया था। उनको मालूम भी नहीं था कि वह कौनसी पुस्तक है जिसके पढ़ने को उन्होंने कह दिया था)। थोड़ी सी देर के बाद यन्त्र ने यह लिख दिया:—

"I will curtly prove by a short historical narrative, that property is a novelty, and has gradually arisen or grown up since the primitive and pure time of christianity, not only since the apostolic age, but even since the lamentable union of kirk and state by constantive."

नोट—पुस्तक निकाल कर जांच करने से विदित हुआ कि रेक्टर का लेख शुद्ध है, केवल एक भूल उसमें यह थी कि लेख में 'Account' की जगह 'Narrative' लिखा गया था जिस पुस्तक का यह उद्धरण है उसका नाम था— "Rogers Anti fopriestian +"

'लाज महाशय ने इस यन्त्र के सम्बन्ध में अपनी सम्मति इस प्रकार लिखी है:—"वे अवशिष्ट जीव, जो निकट भविष्यत् में इस पृथ्वी पर थे और अब मर चुके हैं, कभी कभी और कठिनता के साथ ऐसे मध्यवर्ती यन्त्र रचना द्वारा जो उनके अधिकार में दी जाती है, हम से संलाप करते हैं, यह यन्त्र रचना निमित्त पुरुष (माध्यम) को अस्थायी रीति से अपने मस्तिष्क से काम लेना बन्द कर देता है, अविशिष्ट उससे काम लेते हैं, इस उद्देश्य से कि अपने विचार उसमें भरें, और वही उनके इस प्रकार भरे हुये विचार प्राकृतिक जगत् में संलाप अथवा लेख द्वारा प्रकट होते हैं—और अवशिष्ट जीवों

---

*Survival of man by Sir Oliver Lodge p. 104-106.

का, इस प्रकार ऐसे प्राकृतिक साधनों (मस्तिष्कादि) के काम में लाने ही को, जो वास्तव में उनके नहीं हैं, स्वयं "चलदयन्त्र" कहते हैं * ।

लाज की इस सम्मति के विरुद्ध एक दूसरे विद्वान् ने इस स्वयं प्रेरित लेख का कारण इस प्रकार प्रकट किया है:—

"लघु (दूसरा) मस्तिष्क (Subjective mind) तन्तुओं, पेशियों, हाथ और बाहु पर अपना अधिकार कर लेता और वही पेन्सिल को आगे चलाता है—इस बीच में पहला मस्तिष्क (मन) बिल्कुल शान्त गति शून्य प्रायः निर्विषय-सा हुआ करता है" †—

पहले कहा जा चुका है कि चित्त में जन्म जन्मान्तर के विचार निहित रहते हैं और प्रकरण उपस्थित होने पर जागृत हो जाते हैं—चित्त का एकाग्र हो जाना इसके लिये जरूरी है एकाग्रित चित्त को ध्यान समाधि के साथ जोड़ देने से, और फिर इस सम्मिलित शक्ति को किसी अप्रकट विषय पर कर देने से वह विषय प्रकट और स्पष्ट हो जाता है—योग की परिभाषा में इसी का नाम संयम करना है। "मोसेज" को जो उत्तर "रेक्टर" से प्राप्त हुये, असल में वे उत्तर उसी के अपने चित्त के दिये हुये थे—यदि चित्त की स्मृति-भण्डार में ज्ञान होता, तो फिर अन्य अवसरों की भाँति इसका भी उत्तर न मिलता:—

* Survival of man by Sir Oliver Lodge p. 106

† The Law of psychic phenomena by T. J. Hudson p. 259.

"मेज़ का हिलना और झुकना"

मेज़ के द्वारा भी रूहों के बुलाने की बात कही जाती है। उसका अमल इस प्रकार किया जाता है*:—

एक गोल मेज़ लो और कुछेक पुरुष स्त्री इसके चारों ओर बैठ जावें और अपने हाथों की हथेलियों को मेज़ पर हलकेपन के साथ रक्खो—और प्रतीक्षा करें कि वे किसी गति को अनुभव करने वाले हैं।

थोड़ी देर में वे एक विलक्षण कम्पन अनुभव करने लगेंगे

"कम्पन का अनुभव"

जिसका भाव, इस अमल के करने वाले, यह बतलाया करते हैं कि यह किसी रूह के वहां उपस्थित होने की सूचना है—इसके बाद कुछ मिनट गुजर जाने पर मेज़ के चारों ओर बैठने वालों में से कोई एक मेज़ से कुछ इस प्रकार कहे या पूछे, मानों वह किसी व्यक्ति को सम्बोधन करके कुछ कह या पूछ रहा है—

प्रश्नकर्त्ता को उत्तर देने के नियम भी रूह को बतला देने

"उत्तर देने के नियम"

चाहियें, जिससे वह प्रश्न कर रहा है—वे नियम कुछ इस प्रकार के होने चाहिये कि यदि तीन बार मेज़ झुके या हिले या खटका हो तो उसका अभिप्रायः "हां" समझा जावेगा यदि एक खटका हो तो 'नहीं' यदि दो हों तो 'सन्दिग्ध' यदि चार हों तो 'अच्छी बात' समझी जायगी—और मेज के इन्हीं झुकाओं या खटकों की

---

*Table Rapping and Automatic writing by A Verner, F. A. I. P. Page 4-6.

संख्या से प्रश्न का उत्तर लिया जाया करता है—मेज़ के चारों ओर वैठने के भी कुछ नियम हैं और वे ये हैं कि एक पुरुष उसके बाद एक स्त्री फिर पुरुष और स्त्री इत्यादि कभी कभी इस नियम का अपवाद भी कर लिया जाता है—अन्धेरे कमरे में वैठ कर यह अमल करना उपयोगी समझा जाता है—दो पहर के बाद सायंकाल या रात्रि का प्रारम्भ, इस अमल के करने के लिये अच्छे समझे जाते हैं—

"प्रकाश और तारों का दृश्य"

यह भी कहा जाता है कि कभी कभी अभ्यास करने के बाद अमल करने वालों को कमरे में प्रकाश कभी कभी तारे, कभी कभी मनुष्यों के शिर आदि भी दिखाई दिया करते हैं—अस्तु इस प्रकार मेज़ के हिलने और खटकों से रूह का उत्तर समझ लिया जाता है।

"मेज़ के हिलने आदि का कारण"

परन्तु मेज़ के हिलने और खटके होने आदि के कारण मेज़ पर प्रयोग कर्ताओं के हाथ हुआ करते हैं-यदि हाथ न रक्खे जावें तो कितने ही विश्वास और श्रद्धा से क्यों न किसी रूह को बुलाया जावे, वहां कोई फटक नहीं सकता—जब मेज़ पर हाथ रख कर गति के अनुभव की प्रतीक्षा करते हैं, तभी दूसरे (लघु) मस्तिष्क के प्रभाव से हाथ में गति आती है और वही गति मेज़ के भी हिलने जुलने का कारण हो जाया करती है-

"उज्ज्वल स्वप्न"

पश्चिमी अध्यात्मक-वाद का एक अंग उज्ज्वल स्वप्न भी है, जिसके द्वारा उसके अनुयायी अलौकिक रीति से घटनाओं के प्राप्ति की संभा-

वना स्वीकार करते हैं। सर अलिवर लाज ने लिखा है* कि ज्ञान तो अवश्य किसी माध्यम के द्वारा प्राप्त होता है, परन्तु उस (माध्यम) का ज्ञान हमको कुछ भी नहीं है, और किस प्रकार यह अलौकिक ज्ञान हम तक पहुँचता है; यह बात भी अभी तक अप्रकट है। सर अलिवर लाज तथा अन्य अध्यात्मकवादियों ने इस वाद के स्थापनार्थ अनेक घटनायें उपस्थित की हैं, जिनमें से उदाहरणार्थ, लाज महोदय की वर्णित, एक घटना यहां लिखी जाती है:—

"एक उदाहरण"

पादरी इ. के. इलियट जब अटलांटिक महासागर में एक जहाज पर सफ़र कर रहे थे, जहां तार और चिट्ठी नहीं पहुँच सकते थे, उन्होंने १४ जनवरी १८८७ को अपनी 'दिन पत्रिका में लिखा है, कि पिछली रात्रि मुझे स्वप्न आया कि मेरे चचा एच. ई. का पत्र आया है। जिसमें मुझे मेरे प्यारे भाई की तीन जनवरी को मृत्यु हो जाने की सूचना दी है। उससे मुझे बड़ा दुःख हुआ। मेरा भाई स्वीटजरलैण्ड में बीमार अवश्य था, परन्तु उसका अंतिम समाचार, जो इङ्गलैण्ड छोड़ते समय मुझे मिला था, यह था कि अब वह अच्छा है। जब मैं अपनी यात्रा समाप्त करके इंगलैण्ड वापिस आया तो जैसा कि मुझे प्रतीक्षा थी, मुझे पत्र मिला जिसमें ३ जनवरी को भाई की मृत्यु हो जाने की सूचना मुझे दी गई थी†।

* Survival of man by Sir Oliver Lodge p. 112.

†Survival of man by Sir Oliver Lodgs p. 106&107

इस प्रकार की घटनाओं के स्वप्न द्वारा ज्ञान होने का असली कारण परोक्ष दर्शन (Clair voyance) है लघु मस्तिष्क (subjective mind) कहा जा चुका है कि स्वप्न में काम किया करता है और परोक्ष दर्शन की योग्यता द्वारा, इस प्रकार का ज्ञान हो जाया करता है-इस ज्ञान के प्राप्त होने में किसी वाह्य साधन का, रत्ती भर भी, सम्बन्ध नहीं है—यह अपनी ही शक्तियों का अज्ञान है, जिसकी वजह से हम इसका कारण वाहर ढूंढा करते हैं—

"इसका कारण"

भूत प्रेत की सत्ता माया के सदृश है। पश्चिम के अनेक विद्वान् इसको ऐसी ही मानते भी हैं, उनका कथन है कि दृष्टि की अपूर्णता और विभ्रम से मनुष्य का कुछ का कुछ देखने को इन्द्रजाल (Haiucination) कहते हैं—कहा जाता है कि एक अंग्रेज़ कृपक यह देखने का अभ्यासी था कि उसके खेत में इधर से उधर फ़ौजी सिपाही घूमा करते हैं-इसी प्रकार एक स्त्री कहा करती थी कि वह कतिपय परिचित मरे हुये पुरुषों को देखा करती है कि उसके कमरे में घूमा करते हैं—टुकेट कहता है कि इंगलैण्ड की पार्लियामेंट के एक सदस्य को विश्वास था कि उसने पार्लिया- मेंट के एक मरे हुये सदस्य को पार्लियामेंट के भवन के बरा- मदे में टहलते हुए देखा है—जिस प्रकार दृष्टि विभ्रम से मनुष्य कुछ का कुछ देखता है—इसी प्रकार श्रोत्र विभ्रम से कुछ का कुछ अथवा कुछ न होने पर भी कुछ न कुछ सुना भी

"भूत प्रेत वाद"

करता है।* प्रोफेसर "बेरेट" ने भूतवाद की व्याख्या इस प्रकार की है।†

अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं—जिनसे पहले दो की भांति यह बात प्रकट होती है कि भूत कालिक घटनायें जो

"एक पश्चिमी विद्वान् की सम्मति"

विशेष विशेष व्यक्तियों पर घटित होती हैं, प्राकृतिक ढांचों अथवा स्थानों पर जिनसे उन व्यक्तियों का सम्बन्ध था कुछ इस प्रकार की अपनी छाप लगी छोड़ जाती हैं कि उनकी छाया अथवा गूंज का उन पुरुषों को अनुभव होने लगता है, जो अब यहाँ रहते हैं, और जो चलेन्द्रिय अथवा मृदुप्रकृति वाले होते हैं—यद्यपि यह वाद सातिशय और विश्वास के अयोग्य-सा प्रतीत होता है, परन्तु भौतिक विज्ञान अथवा आत्मिक खोज की सीमा में इसके अनुरूप उदाहरणों की कमी नहीं है-एक सिक्के को एक कांच टुकड़े पर कुछ काल के लिये छोड़ दो उसके बाद हटाने पर उसका चिन्ह कांच पर रह जाता है और कांच पर के चिन्ह को व्यक्त करने से दिखाई देने लगता है—लकड़ी कोयले अथवा अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के टुकड़े फोटोग्राफी के प्लेट पर रखने और कुछ काल के बाद हटाने से उनके चिन्ह प्लेट पर रह जाते हैं और जिस वस्तु के वह चिन्ह होते हैं, प्लेट को फोटोग्राफी के नियमानुसार विकसित करने से वही वस्तु दिखाई देने लगती है ये और इस प्रकार के अन्य दृश्यों के हेतु, भौतिक विज्ञान से प्रकट होते हैं-परन्तु आत्म जगत्

*Immortabty by H. P. Hayness

† Psychic Research by Prof. Barret p. 107-198.

में इस प्रकार के किसी उदारण से यह वाद प्रमाणित नहीं किया जा सकता है।

एक पश्चिमी विद्वान् का कथन है—दृष्टि विभ्रम से एक

"एक और विद्वान की सम्मति"

ओर तो भूत देखा जाता है-और फिर दूसरी ओर परचित्त ज्ञान वाद द्वारा उस पर दूसरी रंगत चढ़ जाती है और इस प्रकार कल्पित भूत फिर विभ्रम का भूत नहीं रहता, किन्तु असली कहलाने लगता है।*

सर आलिवर लाज इस पक्ष के भी समर्थक हैं। उन्होंने अपने एक पुस्तक में लिखा है कि "कल्पना करो कि भूत प्रेतों

"लाज इसके समर्थक हैं"

की कोई प्राकृतिक सत्ता नहीं है, वह चित्त संस्कार (Impressions) अथवा छाया मात्र है। जो ग्राहक के मस्तिष्क में पड़ा है-और जो उस संस्कार अथवा छाया के अनुरूप है—जो किसी दूसरे पुरुष के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ है और एक तीसरे व्यक्ति द्वारा पहले व्यक्ति के मस्तिष्क में परिवर्तित किया गया है—लाज महाशय ने अपनी इसी पुस्तक में शीघ्र मरे हुये पुरुषों की छाया (Phantom) के दिखाई देने का समर्थन किया है, उन्होंने पृष्ठ ६६ पर उसी के प्रमाणित करने के लिये एक उदाहरण भी दिया है। जिसका सार यह है:—

"मेडम मरते चिल्ली" जो हन्च के राजदूत की विधवा स्टाक

"एक उदाहरण"

होलम नगर में थीं, उनसे पति के शरीरपात हो जाने पर एक सुनार ने चाँदी के दाम

* Immortalty H. P. Hayness.

मांगे, जो उनके पति ने क्रय की थी—मेडम को विश्वास था कि रुपया उनके पति द्वारा चुकाया जा चुका है, परन्तु सुनार की रसीद नहीं मिलती—मैडेम ने "स्वीडन वर्ग" महाशय को अपने घर बुलाया और उनसे इस कष्ट की क्षमा प्रार्थना करते हुए प्रार्थना की कि जैसा कि प्रसिद्ध है, यदि वे मृत जीवों की आत्माओं से बात चीत कर और बुला सकते हैं, तो उनके मृत पति आत्मा से उस चांदी का विवरण पूछें। तीन दिन के बाद स्वीडनवर्ग ने मृत पति की आत्मा से पूछ कर मेडम को बतला दिया कि उनके पति का उत्तर यह है कि चांदी का रुपया चुकाया जा चुका है और रसीद उसकी ऊपर के कमरे की अलमारी में है—उस पर मेडम ने कहा कि अलमारी तो साफ़ करके देख ली गई है, उसमें रसीद नहीं मिली और कागज़ अवश्य हैं—स्वीडनवर्ग ने कहा कि उनके पति ने बतलाया है कि अलमारी की बांई दराज़ खींचने के बाद एक तख्ता दिखलाई देगा, उसे खींच लेना चाहिये, तब एक गुप्तकोष्ट निकलेगा-उसमें इचराज सम्बन्धी निजू पत्र हैं और अपेक्षित रसीद भी-इस गुप्त कोष्ट का हाल कोई भी नहीं जानता था। मैडेम और अन्य पुरुष जो उस समय उपस्थित थे सब के सब ऊपर के कमरे में गये और आलमारी उपर्युक्त भांति खोली गई, तो उसमें वह गुप्तकोष्ट निकला—और उसमें बतलाये हुये कागज़ और वह रसीद भी निकली" तथा ऐसे ही अन्य उदाहरणों से लाज महोदय ने इस वाद को प्रमाणित किया है—परन्तु असल में यह सब करामात अपनी शक्तियों की हैं:——

"वास्तविकता" परचित्त ज्ञान (Telepathy) से इस प्रकार के जैसे कि मेज़ के गुप्तकोष्ट का हाल अनेक

गुप्त और अप्रकट बातें प्रकट हो जाया करती हैं—परचित्त-ज्ञान का एक उदाहरण दिया जाता है:—एक न्यूयार्क की माध्यमा ने संयुक्त-राज्य के पेटेन्ट आफ़िस के एक पदाधिकारी (Examiner) के सम्बन्ध में अनेक बातें प्रकट कीं, जिनका उसे कुछ ज्ञान न था। यह परीक्षण केवल उस देवी (मेडियम) द्वारा परचित्त ज्ञानिक शक्तियों की जांच के लिये ही किया गया था और यह भी प्रकट कर देने के लिये कि इस प्रकार के उत्तरों के देने का सम्बन्ध किसी मृत पुरुष की रूह से नहीं—वह पदाधिकारी स्वय वहां मौजूद था—परन्तु मेडियम और पदाधिकारी दोनों एक दूसरे से सर्वथा अनभिज्ञ थे, यहां तक कि एक को दूसरे के नाम तक का ज्ञान न था—और जब वहां परस्पर एक दूसरे का परिचय कराया गया तो वह भी कल्पित नामों से पदाधिकारी के सम्बन्ध में मेडियम को कुछ बतलाना था, सब ठीक हो जाने पर मेडियम ने कहना शुरू किया:—

"मैं एक बड़ी इमारत देख रहा हूँ, जिसमें अनेक कमरे हैं, इन्हीं कमरों में से एक में, मैं तुमको देखती हूँ—तुम एक बड़े डेस्क के सामने बैठे हो जिस पर बहुत से काग़ज़ फैले हुये हैं मैं डेस्क के दराज़ों को भी देखती हूं—मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तुम पेटेन्ट के स्वत्वों से सम्बन्धित कुछ काम करते हो परन्तु तुम्हारा यही एक काम नहीं—मैं तुमको तुम्हारे घर के पुस्तकालय में भी देखती हूँ, जिसमें बहुत से पुस्तक और हस्त-लिखित पुस्तक (manuscripts) भी हैं—ऐसा मालूम होता है कि

—Survival of man by Sir Oliver Lodge p. 78.

तुम एक पुस्तक भी लिख रहे हो--(इसके बाद मेडियम ने लाइबरेरी की अलमारियों तथा सामानोंकी तफ़सील भीबतला दी और उसके बाद कहा कि) "और पुस्तक के विषय के सम्बन्ध में जिस परिणाम पर तुम पहुँचे हो, उसे भी मैं देखती हूँ।"

पदाधिकारी -क्या यह परिणाम ठीक है ?

मेडियम—"यह मैं नहीं बतला सकती, क्योंकि मैं उस (पुस्तक के) विषय से अनभिज्ञ हूँ—(इसके बाद मेडियम ने पुस्तक तय्यार करने में जिससे सहायता ली जा रही थी, उस का भी हाल बतलाया इत्यादि। *

उदाहरण से स्पष्ट है कि किस प्रकार मेडियम ने अपनी अभ्यस्त परचित्त ज्ञानिक शक्ति से पदाधिकारी का समस्त हाल बतला दिया, यहां तक कि लेखान्तर्गत पुस्तक का परिणाम भी बतला दिया—अपनी शक्तियों से अनभिज्ञ नर नारी इसको भी किसी रूह का काम ही बतलाते, परन्तु ये सब परचित्त ज्ञानिक शक्ति के विकाश का परिणाम हैं:—

"रूहोंका फोटो लेना"

पश्चिमी अध्यात्मवाद का एक अंग जो अत्यन्त विवादास्पद है, रूहों का फोटो लेना Spirit Photography) है—थोड़े से अध्यात्मवादी इस क्रिया पर पूरा पूरा विश्वास रखते हैं, परन्तु अधिक संख्या में

* The law of psychic phenomena by Hudson p. 224-276.

इसके विरोधी हैं—इस क्रिया का कुछ रूप जाना जा सके, इस के लिए उदाहरण दिया जाता है:—

सर आर्थरकोनन डोयल (Sir Arthur Conon Doyle) ने स्वयं इस फ़ोटोग्राफी का परीक्षण करके उसका उल्लेख इस प्रकार अपनी एक पुस्तक में किया है * डोइल का कथन है कि "१६१६ की ग्रीष्म ऋतु में, इसी परीक्षण के लिये पहले से नियत किये हुये समय पर, क्रियू (Crewe) गये म० ओटन (mr. Outen) सम्पादक 'टू वर्ल्ड्स' (Two worlds) और वाकर (mr. Walker) दो अध्यात्मवादी मेरे साथ थे—होप और देवी वक्सटन (Mr. Hope and Mrs Buxton) माध्यम हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे—भेंट होने पर एक संक्षिप्त धार्मिक कृत्य के बाद होप और मैं एक अन्धगृह (Dark Room) में गये—वहां पहुँच कर मैंने प्लेट का पैकट खोला, जो मैं मानचेस्टर से खरीद करके साथ ले गया था। और उनमें से दो प्लेटों पर चिन्ह करके कैरियर (Carrier = Dark Side) में रख दिया, तब कैरियर को होप ने कैमरा (Camera) में लगा दिया। और हम तीनों आध्यात्मवादी एक कम्बल का पीछे से साया करके बैठे—तब परदा खोला गया और कैरियर फिर अन्धगृह में पहुँचाया गया वहां मैंने स्वयं अपने हाथों से उन प्लेटों को निकाला और उन्हें व्यक्त Develop) किया और जहां तक मैं अनुभव कर सकता था, इस सब कार्य्ये में प्लेटों

* The case for spirit photography by Sir A. C. Doyle p. 18 & 19

के बदले जाने का कोई मौका न था। फ़ोटो जो इस प्रकार खींचा उसकी हालत यह थी कि हमारे चारों ओर गहरे बादल थे और एक गोशे में एक नवयुवक का चेहरा और उसके बाल थे—और चित्र पर यह इबारत लिखी थी—

"Well done, Eriend Doyle, I welcome you to crewe, Greetings to all. T. colley. अर्थात् टी० कौले की ओर से मेरे नाम सन्देश था, जिसमें लिखा था कि "मित्र डोइल ! आपने बहुत अच्छा किया, मैं क्रियू में (आने के लिये) स्वागत करता हूँ, सबको नमस्कार"—यह कौले महाशय इस "क्रियू सरकल" (Crewe circle) के संस्थापक थे और संदेश के अक्षर कौले के अक्षरों में मिलते थे।"

"इसकी असलियत"

डोइल ने उपर्युक्त विवरण अपने एक परीक्षण का देकर दावा किया है कि रूहों के फोटो लेने की बात ठीक कही है—परन्तु जो इस क्रिया के विरोधी हैं, उनका कहना यह है कि ये माध्यम लोग पेशावर होते हैं और उन्होंने अपनी रोज़ी कमाने का यह ढंग निकाल लिया है। और अपने काम में इतने होशियार होते हैं, कि इतनी सफ़ाई से प्लेटों को बदल लिया करते हैं कि अपरिचित पुरुषों को उसका ज्ञान भी नहीं होने पाता और यह कि ये लोग जो फोटों में बादलों के चिन्ह दिखलाया करते हैं, ये चिन्ह ऊन (Cotton wool) का अक्स होता है, जो सामने रखने से प्लेट पर पड़ा करता है। यह विरोध स्वयं एक प्रतिष्ठित अध्यात्मवाद के संघ (Society for Psychic Research) की ओर से हुआ था—इस संघ ने इस क्रिया की सचाई जानने का यत्न किया—संघ के अग्रणी प्राइस महाशय (Mr Price) ने आध्याम होप के साथ पत्र व्यवहार करके परीक्षण का समय

नियत कराया--नियत समय पर प्राइस नियत स्थान पर पहुँचे उन्होंने अपने साथ ले जाने के लिये * एक कम्पनी से प्लेट खरीदे और उनमें से ६ प्लेटों पर एक्सरेज़ (X—rays) से इस प्रकार कम्पनी का व्योपारिक चिन्ह (Trade mark) चिन्हित करा दिया गया कि बाहर से किसी को पता न चले कि उस पर कोई चिन्ह है, परन्तु व्यक्त (Develop) करने से वह चिन्ह जाना जा सके, इस प्रकार के चिन्हित ६ प्लेटों को लेकर प्राइस महाशय वहां पहुँचे थे।

"एक दूसरा उदाहरण"

प्राइस के साथ एक प्रतिष्ठित सज्जन "सीमोर" (Mo. Seymour) और एक इन्द्रजालिक (Conjurer) भी था यह परीक्षण २४ फ़रवरी सन् १६२८ ई० को लगडन के साइकिक कौलिज (The Britisn College of Psychic Science, London) में किया गया था।† प्राइस का कहना है कि मैंने अपने आपको बहुत प्रसन्न बनाया और प्रारम्भिक मामूली धार्मिक कृत्यों के बाद प्राइस और होप दोनों अन्धगृह में गये। वहां से चिन्हित प्लेट खोले गये और दो प्लेट ऊपरसे लेकर कैरियर में डाले गये।

"माध्यम होप की चालाकी"

होप ने "कैरियर" लेकर प्राइस से कहा कि बाकी प्लेटों को बांध लेवें। इसी बीच में प्राइस ने देखा कि माध्यम होप ने विना कुछ कहे सुने उसको अपने कोट की बाईं जेब में डाल लिया और अपने पास का दूसरा कैरियर वहां रख दिया। पहले

* Imperial Dry plate Company.

† The case for spirit Photography p. 36—38.

कैरियर पर प्राइस ने सुई आदि की भांति किसी [Pricking instrument] से कुछ निशान भी कर दिया था, जिसका हाल होप भी नहीं जानता था। इसके बाद प्राइस और होप दोनों अन्धगृह से निकले और प्लेटों के व्यक्त करने पर दो फोटो खींचे हुये दिखाई दिये एक तो केवल प्राइस का था। दूसरे फोटो में प्राइस के सिवा उसके कन्धे की ओर देखती हुई एक स्त्री का चेहरा था। दोनों प्लेटों को लेकर प्राइस अपने संघ को लौट गये और देखने से वहां साफ मालूम हो गया कि प्लेट और कैरियर दोनों बदले हुये थे, न प्लेट पर एक्सरेज़ का चिन्ह था और कैरियर पर प्राइस का किया हुआ निशान था। प्लेट के रंग और मुटाई में भी अन्तर था। इस परीक्षण से प्राइस और उनके संघ ने उपर्युक्त परिणाम निकाला था कि माध्यम लोग चालाकी से पैसा कमाते हैं और यह कि रूहों के फोटो लेने आदि की बात सर्वथा मिथ्या है।

इस परीक्षण में प्लेट बदलने की बात, होप के पक्षपाती डोइल को भी स्वीकार करनी पड़ी है।*

---

*डोइल ने लिखा है—This statement (of changing plates) holds good. The plates have been examined and compared, and those who desired to guard the interests of Mr. Hope, agreed that this contention was right, and that there had actually been a substition of plates at somentime by some body. (The case for spirit photography by Mr. Doyle p. 39.

संघ का यह भी कथन है कि उपर्युक्त परीक्षण के बाद असली प्लेटों में से एक प्लेट [एक्सरेज के चिन्ह वाले] जो परीक्षण के समय अन्धगृह में बदल गये थे, संघ में अत्यन्त गुप्त रीति से किसी ने पहुँचा दिया था, जिसके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि उसे कौन लाया और किस प्रकार वह प्राप्त किया गया। डोइल ने इस कथन को भी "होप" के विरुद्ध ठहराया है।*

इस परीक्षण के द्वारा प्लेट और कैरियर के बदले जाने की बात खुल जाने से एक महाशय डिंगवाल (Mr. Dingwal) ने भी सन् २२ के मई मास में, होप से परीक्षण करने का समय नियत करने के लिए लिखा, परन्तु होप ने परीक्षण कराने से इन्कार कर दिया।† तब उपर्युक्त परीक्षण का विवरण उपर्युक्त साइकिक संघ की कार्य्यवाही में सम्मिलित करके प्रकाशित कर दिया गया।

माध्यम होप के लिये यह भी कहा जाता है कि वह अन्धगृह में बराबर बेचैनी के साथ इधर उधर दौड़ धूप में व्यग्र रहा करता है। उसकी यह बात भी सन्देह योग्य बतलाई जाती है और कहा जाता है कि माध्यम को अन्धगृह में क्यों जाना चाहिये। सब काम परीक्षण कर्ता द्वारा ही क्यों नहीं कराये जाते ?

यह तो हुई एक माध्यम (होप) की बात, अब दूसरी

"दूसरी माध्यम डीन का हाल"

माध्यमदेवी डीन (Mrs. Deane) की बात सुनिये—यह देवी जो खुले तौर से प्लेटों को परीक्षण दिवस से कुछ दिन पहले

× The case for spirit photography by Mr. Doly p. 41

†The case for spirit photogr phy by Ma D yle p. 44

अपने पास मंगवा लेती है—पीछे से अदलने बदलने का झगड़ा ही नहीं रखती और कहती है कि प्लेटों को वे चार पांच दिन अपने पास रखकर उन्हें आकर्षण शक्ति युक्त (Magnetising) कर देती है*—इसका परिणाम यह है कि परीक्षण करने वाले सन्तुष्ट नहीं होते हैं और समझने लगते हैं कि इस फ़ोटोग्राफ़ी में कुछ चालाकी ज़रूर होती है—

"तीसरे माध्यम वीर्न कोम्बे का हाल"

तीसरे माध्यम वीर्न कोम्बे (Mr. Vearn Combe) महाशय एक साधारण फ़ोटोग्राफ़र से रूहानी फ़ोटोग्राफ़र बने हैं—डोइल का कहना है कि उसने दोबारा इनके द्वारा परीक्षण किये, परन्तु दोनों बार परीक्षण असफल हुये—एक परीक्षण की बात उसने इस प्रकार लिखी है†—

"एक चिट्ठी को लिफ़ाफ़े में बन्द करके मैं (Doyle) ने वीर्न कोम्बे के पास इसलिये भेजी कि पत्र का फ़ोटो लेवे, परन्तु पत्र का फोटो आने की जगह छै सात चेहरों का फ़ोटो खिंच गया यही हाल दूसरे परीक्षण में भी हुआ—वीर्न कोम्बे की चालाकी का हाल एक बार इस प्रकार मालूम हुआ कि कतिपय सज्जनों ने एक मुहर किया हुआ पैकट वीर्न कोम्बे के पास भेजा और कहला भेजा कि जो कुछ वह उसके सम्बन्ध में कर सकता है, करे—परीक्षण के बाद पैकट परिणाम के साथ वीर्न कोम्बे ने उन सज्जनों के पास लौटा दिया—पैकट खोलने और
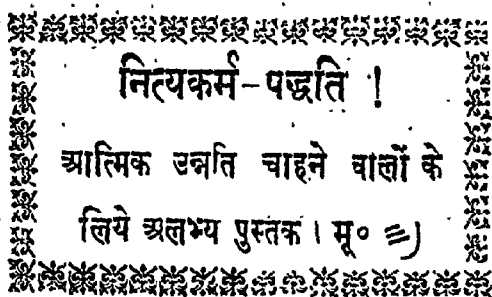
* The case for spirit photography p. 54.

† The case for spirit photography p. 57.

देखने के बाद उन लोगों ने घोषणा की कि पैकट में कुछ अदल बदल करदी गई है—इसका परिणाम यह हुआ कि वीर्न कोम्बे की मान हानि हुई और ख़ास सूरतों के सिवा उसने रूहों के फ़ोटो लेने के परीक्षण सर्व साधारण के सामने करने छोड़ दिये*—

"रूह की फ़ोटो लेने की बात मिथ्या है"

इन परीक्षणों और माध्यमों की चालाकियों पर दृष्टिडालने से प्रत्येक समझदार आदमी इसी नतीजे पर पहुँचता है कि रूह के फ़ोटो लेने की बात सर्वथा मिथ्या है—इसी परिणाम पर स्वयं लंडन के साइकि संघ को पहुँचाना पड़ा, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—इसके सिवा फ़ोटो स्थूल शरीर का खिचा करता है, जब रूहें स्थूल शरीर रहित होती हैं, जैसा कि रूहों के व्यवसायी कहा करते हैं, तो फिर किस चीज़ का खिंच सकता है ?—समझदार आदमियों को इसका भी विचार करना चाहिये।

*The case for spirit photography p. 58—59.

तीसरा परिच्छेद

"परचित्त ज्ञान"
"Telepathy"

एक चित्त के दूसरे चित्त पर, इन साधनों से जिनका ज्ञान इस समय तक विज्ञान को नहीं है, कार्य्य करने को "परचित्तज्ञान" कहते हैं†। माइर्स की सम्मति है कि मानुषिक मस्तिष्क का बड़ा भाग अप्रकाशित है और वह अप्रकाशित भाग न केवल अपनी किन्तु पूर्वजों की भी स्मृतियों का पुंज है। इसी को उसने उत्कृष्ट चेतना का नाम दिया है। माइर्स का यह वाद सेमुयेल बटलर [Samuel Butler] के अज्ञात स्मृतिवाद" से मिलता जुलता है।

"माइर्स की सम्मति"

माइर्स ने इस बात का विवरण इस प्रकार दिया है*। वर्षों से यह बात अधिक और अधिक मात्रा में सोची और समझी जाती रही है कि किस प्रकार एक व्यक्ति का जीवन पूर्वजों के अनुभवों का अज्ञात परिवर्तन युक्त, विषम रूप है। जन्म से लेकर मरण पर्य्यन्त रंग रूप, कार्य्य और प्रकृति आदि में हम उन्नत जीवनों का जो पृथ्वी पर करोड़ों वर्ष से प्रादुर्भूत होते रहे हैं, रूपान्तर हैं। निरन्तर विस्तृत परिस्थिति के साथ सम्बन्धित होनेसे क्रमशः चेतना का द्वार अपना स्थान छोड़ता सा गया, जिसका प्रभाव यह हुआ कि चेतना की वह धारा जो एक वार हमारी सत्ता

---

† अर्थात् दो जीवित पुरुषों के चित्त में बिना किसी बाह्य और ज्ञात साधन के विचार परिवर्तन की विधि परचित्तज्ञान (Telepathy) कहलाती है।

* Human personality by Mayers Vol. I p, 16

के मुख्य भाग में प्रवाहित होती थी, अधिकतया बन्द सी हो गई। हमारी चेतना विकास के एक दर्जे पर पहुँचे हुये असार [संसार] समुद्र में एक लहर के सदृश है। और लहर ही के सदृश वह न केवल बाह्य सत्ता रखती है, किन्तु अनेक तहों वाली भी है। हमारा आत्म संयोग न केवल सामयिक संघात है, किन्तु स्थिर भी है और चिरकालीन अनियमित विकास का परिणाम है। और अब तक भिन्न भिन्न अवयवों के सीमित श्रम से युक्त है।"

मस्तिष्क का ठीक ज्ञान न होने से मस्तिष्क के नाम अथवा काम से सम्बन्धित जो बात भी कही जाती है, कोई दूसरा पुरुष जो उस बात को न भी मानता हो, निश्चित रीति से उसका प्रतिपाद नहीं कर सकता। यही हेतु है; जिससे परचित्त ज्ञान सम्बन्धी विश्वास पश्चिम में बढ़ रहा है। इस विषय से सम्बन्धित अनेक पुस्तक जिनमें परचित्त ज्ञान के परीक्षणों का उल्लेख है, प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हीं के आधार पर दो एक परीक्षण यहां लिखे जाते हैं। बैरेट की पुस्तक† में एक घटना जो इस वाद की पोषक है, अंकित है, और वह इस प्रकार है।

"एक उदाहरण"

"फरवरी १८९१ ई० में एक अमेरिकन कृषक घर से १०० मील की दूरी पर "डूबक" नाम वाले नगर में अचानक मर गया। पुराने वस्त्र जो पहन रहा था, वहीं फेंक कर उसका पुत्र शव को घर ले आया।

† Psychical Research by Prof. Barret p 130.

अपने पिता का दुःखदायी मृत्यु समाचार सुनकर उसकी पुत्री बेहोश हो गई और कई घण्टे उसी अवस्था में पड़ी रही। जब उसे सुध हुई. तो उसने कहा—"कहाँ हैं पिता के वस्त्र ?" मेरे पास आये थे। सफेद कुर्त्ती और अन्य काले वस्त्र और सेटिन के सलीपर पहने हुये थे। उन्होंने मुझसे कहा कि घर छोड़ने के बाद बिलों की एक लम्बी सूची तय्यार करके उन्होंने जेब में रखली थी जो अपने खाकी कुर्ते के भीतरी लाल कपड़े के टुकड़े से सिली थी, और रुपया भी उसी में है। दफ़न करते समय जो वस्त्र शव (लाश) को पहनाये गये थे, वे वही थे, जिनका विवरण लड़की ने दिया था। और लड़की को इन वस्त्रों के पहनाने का कुछ भी ज्ञान न था। इसके सिवा कुर्ते के भीतर वाली जेब और रुपयों का हाल उसे और न अन्य किसी को मालूम था। लड़की को सन्तुष्ट करने के लिये उसका भाई "डूबक" गया, जहाँ उसका पिता मरा था। वहां उसने पुराने वस्त्र पाये, जो एक छप्पर में रक्खे थे। कुर्ते की भीतरी जेब में वह लम्बी सूची भी बिलों की मिली, जो ३५ डालर के थे, और उसी प्रकार लाल कपड़े के टुकड़े से सिले थे, जैसा लड़की ने बतलाया था। जेब के टाँके बड़े और अनियमता से लगे हुये थे, जैसे किसी पुरुष ने सिये हों"। प्रोफेसर बैरेट ने इस घटना के आधार पर "परचित्त ज्ञान" की सत्यता पर विश्वास किया था। मेइर्स ने भी इस घटना का सविवरण उल्लेख करते हुये इस वाद की पुष्टि की है† एक दूसरे परीक्षण का भी उल्लेख किया जाता है। यह परीक्षण सर आलिवर लाज ने

† Human personality vol II p 39 by Mayers.

किया था और उन्होंने ही इसे अपने एक पुस्तक में† अंकित किया है। परीक्षण का विवरण इस प्रकार है।

"एक और परीक्षण"

दो पुरुष अपने विचार, एक तीसरे पुरुष में जिसकी आँखें अच्छी गिरह—कपड़े से बाँध दी गई थीं, पहुँचाने के लिये बैठे। एक मोटे कागज़ की ओर एक शक्ल वर्गाकार इस प्रकार की बना दी गई थी और कागज़ की दूसरी ओर दो रेखायें + इस प्रकार की खींच दी गई थीं। वे दोनों पुरुष एक मेज पर आमने सामने बैठे और दोनों के बीच में वह कागज इस प्रकार रक्खा गया था कि एक पुरुष अपने ओर वाले चित्र को देखता रहे। परन्तु उन दोनों को भी यह जानने का अवसर नहीं दिया गया था कि कागज की दूसरी ओर क्या है। तीसरे पुरुष को जो "ग्रहण क्षम" था, और जिसकी आंखों से पट्टी बंधी थी, वहीं मेज के पास बिठलाया गया और तीनों के बीच में कोई दो फुट का खुला अन्तर रक्खा गया था। दोनों पुरुष अपने अपने सामने के चित्रों को संलग्नता के साथ इस विचार से देखने लगे कि उन्हें "ग्रहणक्षम' ने इस प्रकार कहना शुरू किया—

"कुछ हिल रहा है और मैं एक चीज़ को ऊपर और दूसरी को नीचे देख रहा हूँ। साफ़ साफ़ दोनों को नहीं देख सकता" तब वह कागज़ जिस पर चित्र खिंचे थे, छिपा दिया गया और

† The survival of man by Sir oliver Lodge p. 28-29

"ग्रहणज्ञम" की आंखों से पट्टी खोल कर कि जो चीज़ उसके विचार में आई थी, उन्हें कागज़ पर लिख देवे। उसने एक चित्र इस प्रकार का खींच दिया" लाज का कथन है कि यह परीक्षण अनेक पुरुषों की उपस्थित में किया गया था। उन पुरुषों में कुछ एक वैज्ञानिक भी थे। और यह कि परीक्षण ने सफलता से सिद्ध कर दिया कि एक ही समय में न केवल एक किन्तु दो पुरुषों के विचार भी एक तीसरे पुरुष में डाले जा सकते हैं। सर आलिवरलाज ने यह भी लिखा है कि वैज्ञानिक होने की हैसियत से वे इस परचित्त ज्ञान का कोई हेतु नही दे सकते, सम्भव है कि इसका सम्बन्ध (ईथर) आकाश से हो। यदि यह सिद्ध हो गया, तो अवश्य यह वाद भौतिक विज्ञान की सीमा में आ जावेगा।

लाज ने इसके वैज्ञानिक हेतु देने का यत्न किया है, और

"वैज्ञानिक हेतु"

वह इस प्रकार है†। "एक दर्पण को एक अक्षाग्र (धुरी) में इस प्रकार जड़ दो कि जिससे वह कुछ हिल जुल सके। उससे कुछ दूरी पर फोटोग्राफी का कागज़ और उसी का मध्योन्नत कांच रक्खो यदि सूर्य्य की किरणें आइने पर पड़ेंगी और कागज़ आदि सब व्यवस्था के साथ रक्खे हुए होंगे तो परिणाम यह होगा कि उस कागज पर एक रेखा खिंच जायेगी और इसी प्रकार

† Survival of man by Sir Oliver Lodge p. 61-64

प्रत्येक खटके से जो दर्पण को दिया जायेगा रेखा खिंचती जायेगी। सूर्य्य और उस दर्पण के मध्य में कोई तार अथवा अन्य इसी प्रकार का कोई प्राकृतिक माध्यम, सूर्य की किरणों और आकाश (ईथर) के सिवाय, नहीं है। इसी प्रकार दो मस्तिष्कों में से जिनमें आनुरूप्य सम्बन्ध हो और जो एक दूसरे से पृथक् हो, एक को उत्तेजना देने से दूसरा प्रभावित होगा" आनुरूप्य सम्बन्ध का तात्पर्य्य भौतिक विज्ञान में लाज के कथनानुसार, यह है कि रेल के स्टेशनों पर सिगनल देने के लिये जो खम्भों में हाथ लगे होते हैं और इसी पर लगे हुये एक दूसरे यन्त्र के हिलाने से जिस प्रकार ऊपर या नीचे करने के लिये उसे हिलाते हैं, इसी प्रकार का प्रभाव वह यंत्र की गति उस हत्थे में उत्पन्न कर देती है और उसी प्रभाव के अनुसार वह नीचे या ऊपर हो जाता है, तो उस यन्त्र में और हाथ में समझा जायेगा कि आनुरूप्य सम्बन्ध है, यह हिलाने का खटका जो उस यन्त्र से हत्थे तक पहुंचता है और जिसका माध्यम लोहे की शृंखला अथवा कोई रस्सी होती है, एक सैकेंड में तीन मील की चाल से जाता है। सर आलिवर ने अपने पुस्तक में यह भी लिखा है† कि इङ्गलैण्ड और हिन्दुस्तान का अन्तर आनुरूप्य सम्बन्ध में बाधक नहीं हो सकता। जिस प्रकार इंगलैण्ड में तार की मशीन खटखटाने से तिहरान की मशीन प्रभावित होकर वैसा ही खटका पैदा कर देती है,

† Survival of man by Sir Oliver Lodge p. 70—71

इसी प्रकार मानसिक विचार परिवर्तन इंगलैण्ड और हिन्दुस्तान के बीच ऐसे साधनों से, हो सकता है, जो इस समय तक ज्ञात नहीं हुये हैं।"

"परचित्त ज्ञान की वास्तविकता"

परचित्त ज्ञान और परोक्ष दर्शन (Clair voyance) यही दो शक्तियां हैं, जिनके स्वीकार करने में कुछ भी हिचिर मिचिर करने की ज़रूरत नहीं है और रूहों के बुलाने का सभी मामला इनके समझ लेने से समाप्त हो जाता है—संघ का समय समाप्त हो चुका था इसलिये आत्मवेत्ता ऋषि ने सब का कार्य्य समाप्त करते हुये कहा कि अभी कुछ बातें इस विषय में बाकी रह गई हैं। व अगले संघ में कही जावेंगी—संघ में उपस्थित नर नारी यह सोचते हुये चलने लगे कि जगत् रचयिता ने मनुष्यों के भीतर कैसी कैसी अपूर्व शक्तियां भर दी हैं, परन्तु दुर्भाग्य वाले हैं हम सब कि उनसे न काम लेते न उनके जानने की चेष्टा करते हैं और अनेक भ्रम जालों में फंस रहे हैं-उन्हीं नर नारियों में से एक पुरुप ने उद्बोधनार्थ एक भजन गाना शुरू किया और सभी शान्ति के साथ सुनने लगेः—

भजन (१)

अबतो अबुध आलसी जागो ॥ टेक ॥
उदित भयो विज्ञान-दिवाकर मन्द मोह भागो।
डूब गयो दुर्जन तारागण वृन्द विषय रस पागो॥
अबतो अबुध आलसी जागो ॥ १ ॥

साहस सर में कर्म कमल बन अब फिर झूलन लागो।
प्रेम-पराग हेतु सज्जन कुल भृङ्ग-यूथ अनुरागो॥
अब तो अबुध आलसी जागो॥ २॥
सुख सम्पत्ति चकवा चकई ने मिल वियोग दुःख त्यागो
जाय दुरो आलस उजाड़ में दैव उलूक अभागो॥
अब तो अबुध आलसी जागो॥ ३॥
सकल कला कोशल चिड़ियों ने राग "कर्ण" प्रियरागो।
हिल मिल गैल गहो उद्यम की पीछे तको न आगो॥
अब तो अबुध आलसी जागो॥ ४॥

भजन (२)

उठरी बाले! अब तो जाग।
भोर भई है, निद्रा त्याग॥
उठरी सजनी! बीती रजनी।
बोल रहे चिड़िया औ काग॥
निकली किरणें सुरजन जागे।
जाग उठा तव सत सुहाग॥
प्रातःकाल भजन कर प्रभु का।
जिस से हो प्रिय से अनुराग॥

—※—
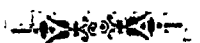
"चौथा परिच्छेद"

"दसवां संघ"

रूहों का बुलाना।
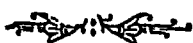
"प्रारम्भ"

संघ का समय निकट भविष्यत् ही में आने वाला है। इस लिये अनेक नर नारी संघ में जाने के लिये सन्नद्ध हैं—उनके हृदयों में एक विलक्षण भाव उत्पन्न हो रहा है। जब वे अपनी ओर देखते हैं, तो अपने को अनेक चिन्ताओं की चपेटों से कम्पित, विवेक शून्य, कर्तव्य विमूढ़-सा पाते हैं, रोमांचकारी कुप्रथाओं के निन्दनीय आतंक वश अनेक यातनाएँ भोगते हुये देखते हैं, हृदय उद्वेग से विह्वल है और दुःखमय आन्तरिक क्षोभ से व्यथित हैं, सोचते हैं कि कब और किस प्रकार यह धर्म ध्वंसिनी मोह निद्रा विदूरित होगी और कब उनके हृदय, धर्म भावोत्पन्न होंगे और कब आत्मत्याग पूर्वक निर्भीक चित्त से सदाचार के सुपथ में पदविन्यास कर सकेंगे, परन्तु जब संघ के विलक्षण प्रभाव का स्मरण करते हैं कि अनेक माई के लाल अपनी कमनीय आलोकमाला के विकीर्ण करने के लिये, उसी के अलौकिक प्रभाव से, प्रभावित हो कर अग्रसर हो रहे हैं और अनेक अज्ञानान्धकार शमन करने में समर्थ हो चुके हैं और उसके साथ ही जब ऋषि आत्मवेत्ता का स्मरण करते हैं कि उनकी अनुपम शिष्टता, मितभाषिता, गम्भीरता, सुशीलता

और मिष्ट भाषण किस प्रकार चिरसंचित कुसंस्कारों के दूर करने के लिये तीव्र शस्त्र का काम कर रहे हैं और किस प्रकार उनका अलौकिक स्नेह सम्पन्न हृदय, उच्च और उदारता व्यंजक ललाट, गम्भीर और उज्ज्वल मुख-मण्डल अगाध शोक सागर में पतित पुरुषों को भी, सुख और शान्ति के कल्याण मार्ग का पथिक बना रहा है, तो हृदय आशा और उत्साह से पूरित हो उठता है, इस प्रकार के दुरुखे विचारों की लहरों में, बहते हुये नर नारी वेग के साथ संघ की ओर चले जा रहे हैं। आश्रम की पवित्र भूमि आगई—देखते ही देखते ऋषि आत्मवेत्ता संघ में उपस्थित स्त्री पुरुष यथास्थान बैठ गये।

आत्मवेत्ता—रूहों के बुलाने के सम्बन्ध में, जो प्रयोग किये जाया करते हैं, उनका वर्णन आवश्यक आलोचना के साथ किया जा चुका है। दो बातों का व्याख्यान करके तब शंकाओं के करने का अवसर दिया जावेगा।

"रूहों के बुलाने और सन्देश लेने के लिये विश्वास क्यों आवश्यक है"

उनमें से पहली बात तो यह है कि रूह बुलाने का प्रयोग करने वाले कहा करते हैं कि यदि उनके आने और सन्देश देने में विश्वास न हो, तो रूहें बुलाने से भी न आतीं और न संदेश देती हैं। कल्पना करो—एक संघ रूहों के बुलाने के लिये लगा है। कार्य प्रारम्भ होने से पहिले यदि कोई सन्देहवादी बनकर निराशा के साथ कह दे कि "यह सदैव होता है कि जब मैं मौजूद होता हूं, तो न तो कोई रूह

आती है और न सन्देश देती है"—तो बहुत कम सम्भावना बाक़ी रह जायगी कि रूह आवे। अथवा अमल करने वाले, जो प्लैनचिट या मेज़ पर हाथ रख कर बैठा करते हैं और जो रूहों के बुलाने में पूरा विश्वास रखते हैं, रूहों के बुलाने में सफलता प्राप्त कर सकें। विचारणीय यह है कि विश्वास न होने पर रूहों का आना क्यों बन्द हो जाता है? जब रूहों को, उनके बुलाने वालों के कथनानुसार, मेज़ के हिला देने की ताक़त है—प्लैनचिट को गति में ला देने की योग्यता है, हज़ारों मील सफ़र कर लेने की शक्ति है और इसी प्रकार अन्य भी अनेक प्रकार के काम कर सकने का सामर्थ्य है, तो इसका कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि एक अविश्वासी के सम्मुख उनकी सारी शक्तियां क्यों रुख़सत होजावें? उनको चाहिये तो यह था कि अविश्वासियों को विश्वासी बना देने के लिये और अधिक अपनी शक्ति और सामर्थ्य प्रकट करतीं, परन्तु बात होती इसके सर्वथा विपरीत है—हडसन ने खूब लिखा है कि नेपोलियन जब ज़िन्दा था, तो सारा योरुप उसका नाम सुन कर ही थर थर कांपने लगता था, वह योरुपके राजाओं को कठ-पुतली की तरह नाच नचाया करता था। परन्तु जब मर गया, तो उसकी रूह का यह हाल कि उसके सामने आने तक से हिचकिचाती है, जिसे रूह के बुलाने आदि का विश्वास नहीं है।*

---

* The Law of psychic phenomena by Hudson p. 209 and 210

"इसका असली कारण"

इसका असली कारण यह है कि रूह तो कहीं से न आती है और न जाती है। जो कुछ कृत्य हुआ करते हैं, वे अपने ही लघु मस्तिष्क Subject ve mind) के कार्य्य होते हैं और वह स्वयं प्रस्ताव (Autc-Suggestion) से प्रभावित किया जाता है। परन्तु मनुष्य का यदि सन्देह हो, तो स्वयं प्रस्ताव से प्रभावित होने की अवस्था उत्पन्न ही नहीं हो सकती और इसीलिये कोई कार्य्य भी नहीं हो सकता। इस बात से भी स्पष्ट होता है, कि यहां रूहों के बुलाने आदि की बात सर्वथा मिथ्या है।

"रूहों के बुलाने आदि में छल।कपट का बाहुल्य"

दूसरी बात जिसकी इस समय चरचा करनी है, यह है कि रूहों के बुलाने के परीक्षण, परीक्षण की हद से निकल कर तमाशा दिखला कर धन कमाने के संघों में परिवर्तित हो गये हैं और इसलिये इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इन संघों में छल कपट का समावेश हो गया। इसका कुछ जिक्र फोटो लेने के प्रकरण में किया जा चुका है और कुछ यहां किया जाता है:—

(१) मैस-के-लाइन (Maskelyne) और डेवेन्ट (Devon) दो विद्वानों ने जिन्हें रूह बुलाने के एक संघ में अनेक बातें दिखलाई गई थीं; उसी संघ में उन्होंने सब बातों को दुहरा कर दिखला दिया और प्रकट कर दिया कि इन बातों में किसी या किन्हीं रूहों का कुछ भी दख़ल नहीं है।*

*'The Belief in personal immortality by F. S. P. Hayness. (Chapter on spiritism).

(२) टुकेट एक विद्वान् ने एक रूह बुलाने वाले पेशेवर इन्द्र-जाली का उदाहरण दिया है, जिसने १८७७ ई० में वरनल के एक संघ में यह स्पष्ट कह दिया था कि रूह बुलाने के संघों में जो घटनायें घटित होती हैं उनकी वह सकारण व्याख्या नहीं कर सकता।*

(३) स्लेड और होम (Slade and Home) ने, जो रूह बुलाने का अमल किया करते थे-इन संघों में जो छल और कपट किये, वे प्रायः सब पर प्रकट हो गये और उसका परिणाम यह हुआ कि इन संघों से लोगों को नफ़रत होने लगी। †

नोट—इन लोगों के अनेक एजेन्ट थे जो इन स्थानों के जहां संघ होने वाले हुआ करते थे-एक एक घर का सब हाल जान कर इन्हें बतला दिया करते थे-इस काम के लिये लोगों ने एक भाषा भी गढ़ली थी, जिसे कोई दूसरा, जो इनकी गुट्ट से बाहर हो, नहीं समझ सकता था।

(४) एक बात जो इन संघों में आम तौर से मेडियम किया करते हैं, और जो सब को सन्देह डालने वाली हुआ करती है, यह है कि ये रूह बुलाने के संघ प्रायः बिलकुल अंधेरे या धुँधले प्रकाश में किये जाया करते हैं और मेडियम को परदे में इधर उधर घुमाना पड़ता है, जब कि यह बात भली भांति जानी

* The Belief in personal immortality by E. S. P. Haynes. (Chapter on spiritism).

† The Belief in personal Immortality by E. S. P. Hayness (Chapter on spiritism).

हुई रहती है कि मेज़ के चारों ओर जो आदमी खड़े किये जाते हैं; उनको एक दूसरे का हाथ छोड़ने और मेज के पास से हटने की इजाजत नहीं होती।

(५) डाक्टर एलफ्रेड रसल वालेस रूह बुलाने के समर्थक थे, तो भी उन्होंने लिखा है कि एक संघ में उन्होंने एक बुलाई हुई स्त्री की रूह के कान, यह देखने के लिये छूना चाहा कि बालियां पहनने के लिये छिद्र हैं या नहीं; परन्तु इस और ऐसे ही अनेक परीक्षणों में देखा गया है कि कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जिसमें आई हुई रूह पकड़ी गई हो। हाँ, यह तो अनेक बार हुआ कि रूह के बदले मेडियम का शरीर में हाथ आ गया हो।†

(६) पाडमोर ने लिखा है कि इन रूह बुलाने वालों का एक बड़ा संगठन होता है, जिसका उद्देश्य यह होता है कि आवश्यक सूचनायें प्राप्त करते रहें और इस प्रकार एकत्रित सूचनाओं से संगठन के समस्त सदस्यों को वाक़िफ़ करते रहें।‡

(७) रूह के बुलाने का अमल करने वाली दो बहनों के सम्बन्ध में जो किसी फ़ोक्स (Fox) नामक पुरुष की लड़कियाँ थीं, छल कपट का सन्देह हुआ। अन्त में दो भिन्न भिन्न अवसरों पर दोनों ने अपनी चालाकी स्वीकार की और बतलाया कि वे अपने ही घुटने और उंगलियाँ चटखा कर आवाज़ पैदा

---

† My life by Dr. A. R. Wallace p. 347 (vol. II).

‡ Modern spirtism by Padmore vol. II p. 399 (foot note).

कर दिया करती थीं (Their rappings were produced by Cracking the Knee and toe joints)† ।

(८) हिल (J. A. Hill) एक विद्वान् ने लिखा है कि रूह बुलाने वालों में इतना छल कपट (Fraud) और इतनी अधिक अन्ध-विश्वासता (Excessive Credulity) होती है कि जिससे मुझे इतनी घृणा है कि मैं इनके साथ शरीक भी नहीं हो सकता ‡ ।

(९) फिर उसी विद्वान् (हिल) ने एक दूसरी जगह लिखा है कि "रूह बुलाने के सम्बन्ध में जो प्रमाण दिये जाते हैं, वे सन्तोष के योग्य नहीं है-उसने फिर यह लिखते हुये कि ये सब काम धोखा देने के लिये किये जाते हैं और उदाहरण में तीन मेडियमों का जिक्र किया है, जो थोड़े ही समय में एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा (Trick) करते हुये पकड़े गये* ।

(१०) डाक्टर वरेमवेल 'हिपनाटइज़्म' के प्रसिद्ध प्रयोक्ता का कथन है कि सकते या बेहोशी की हालत में केवल लघु मस्तिष्क (subconsciousness or subjective mind) काम करता है और उनसे संलाप आदि का उत्तरदायित्व, उस पर और केवल उसी पर है+ ।

† Spiritualism by J. A. Hill p. 15.

‡ spiritualism by J. A. Hill p. 6.

* Spiritualism by J. A. Hill p. 16.

+ Master workers by Harold Begbie p. 266.

(११) फ्रैंक पोड़मोर ने भी वरेमवेल के प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण किया है और वे भी रूह बुलाने आदि समस्त कार्य्य लघु मस्तिष्क का ही समझते हैं †:—

(१२) एक विद्वान मनस्टर वर्ग लिखते हैं कि रूहों को बुलाने आदि की बातें न तो ठीक हैं और न कभी ठीक होंगी, और इस मामले में जितना ही, वाद विवाद किया जाता है, उससे उतना ही यह मामला और ख़राब ठहरता है ‡:—

(१३) एक और विद्वान ने लिखा है कि थे रूहों का बुलाना आदि सब चालाकी है—यदि मरे हुये पुरुषों की रूहें जिन्दा आदमियों से बात चीत कर सकती हैं, तो क्यों नहीं उन्हीं से साक्षात् बात चीत करतीं, जो उनसे बात करना चाहते हैं—क्यों किसी माध्यम के द्वारा ही बात करती हैं—उसने यह भी लिखा है कि जनता इन रूह बुलाने वालों की बड़ी कृतज्ञ होगी, यदि वे कोई ऐसी तजवीज निकालें जिसके द्वारा मृत पुरुषों की गवाही कमीशन द्वारा या खुली कचहरियों में हो सका करें *:—

(१४) माध्यमों (Mediums) की धोखेबाजी और ऐसे संघों की कार्य्य प्रणाली पर दृष्टिपात करते हुये प्रोफेसर बैरेट

---

† Master workers by Harold Begle p. 261

‡ "The facts as they are claimed do not exist and never will exist and no debate makes the situation bettr." (Psychology and life by munsterbert p. 254).

* The belief in personal immortality by E. S. P. Haynes p. 109.

कहते हैं कि अब मृत जीवों के सन्देश फीके पड़ रहे हैं और यह उत्साह जो पहले था, अब कहीं दिखाई नहीं देता* :—

उपर्युक्त कथन के बाद इस प्रकरण को समाप्त करते हुये आत्मवेत्ता ऋषि ने कहा:—

आत्मवेत्ता—आवश्यकता नहीं कि इस सम्बन्ध में और अधिक बातें कही जावें—जो कहा जा चुका है, वह रूहों के बुलाने के संघों में माध्यम पुरुषों द्वारा जो छल और वंचकता की जाया करती है, उन पर प्रकाश डालने के लिये पर्य्याप्त है—मेडियम छल करते हुये संघों में उपस्थित सज्जनों द्वारा पकड़े जाते हैं और इतने अपमानित होते हैं, कि किन्हीं ने तो यह (रूह के बुलाने आदि का) काम ही छोड़ दिया है, परन्तु फिर भी वह संघ बन्द क्यों नहीं हो जाते, इसका कारण है और पुष्ट कारण है और वह कारण यह है, कि यह संघ अब वैज्ञानिक परीक्षा की सीमा का उल्लंघन करके धन कमाने के पेशों में परवर्तित हो गये है—वे लोग जिनकी जीविका इसीसे चलती है, यदि इसे छोड़ देवें, तो फिर खायें क्या? इसीलिये ये संघ बन्द न हुये और न होने की आशा है।

“छल कपट का पेशा क्यों किया जाता है”

लोकमणि - फिर लोग ऐसा पेशा करते ही क्यों है, जिसमें उन्हें छल कपट करना पड़ता है।

* Psychological Research by Prof. Barret p. 245 and 246.

"इसके कारण"

आत्मवेत्ता—इसके दो कारण हैं:—(१) पश्चिमी सभ्यता का एक मुख्य अंग उपयोगिता वाद (Utilitarianism) है, जिसका भाव है, कि उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक अनुचित से अनुचित काम कर लेना भी जायज़ है—उपयोगिता हो, तो रिश्वत देना जायज़ है✽। भूख से अगर आदमी मरता हो, तो चोरी करना जायज़ है। मिल के अधिकाँश लोगों के अधिक से अधिक सुख (Greatest good of the greatest number) के नियमानुसार सिजविक ने निर्णय किया है कि छोटे लड़कों और पागलों को उत्तर देने के समय, इसी प्रकार बीमारों, अपने शत्रुओं और चोरों को या अन्याय से प्रश्न करने वालों को उत्तर देते समय अथवा वकीलों को अपने व्यवसाय समय में झूठ बोलना अनुचित नहीं है†—इत्यादि, यहां तक कि ईसा के एक प्रतिष्ठित शिष्य "पाल" ने नये अहदनामे की एक पुस्तक में लिखा है कि यदि मेरे असत्य भाषण से प्रभु के सत्य की महिमा और बढ़ती है (अर्थात् ईसाई धर्म का अधिक प्रचार होता है), तो इससे मैं पापी क्यों कर हो सकता हूँ‡" जब उपयोगिता होने पर नीति आचार और धर्म प्रचार में भी झूठ

✽ "Thus to save a life, it may not only be allowable but a duty to steal" (Mill's Utitarianism Ch. Page 95.)

† Sidgevick's methods of Ethics. Book III. Ch, X1, Sec. 6. p. 315—anb 355 (7th Ed.

‡ "For if the truth of God hath more abound·d through my life unto his glory, why yet am I also judged as a Sinner ?" (Romans 3. 7).

बोलना जायज़ है तो धन कमाना भी तो उपयोगिता ही है इस के लिये यदि भूठ बोलना पड़े या छल कपट से काम लेना पड़े तो फिर इसमें क्यों किसी को संकोच होना चाहिए यदि रूह बुलाने का ढंग रच लेने से धन मिल सकता है, तो फिर इसमें हिचिर मिचिर करने की कौनसी बात है ? :—

दूसरा कारण यह है कि भारतवर्ष में अंगरेज़ी पढ़े लिखे पुरुषों ने अपनी आजीविका पैदा करने का साधन नौकरी और वकालत को बना रक्खा था, सो इन् पेशों में अब उनकी खपत होने के लिये जगह बाक़ी नहीं रही। व्यवसाय या व्यापार करने का इनमें साहस पैदा नहीं हुआ, फिर करें तो क्या करें— एक ग्रेजुएट को सात जीवन व्यतीत करने पर भी सौ डेढ़ सौ रुपये से अधिक की आय नौकरी करके नहीं होती। यही हालत वकालत के पेशों की है, वहां अब अधिक लोगों की खपत ही नहीं है। ऐसी हालत में यदि एक ग्रेजुएट, रूह बुलाने के पेशे में १५) प्रति संघ वसूल कर सके, तो वह तो समझेगा कि उसके हाथ सोने का अंडा देने वाली मुरगी आ गई। यदि एक भी संघ प्रति दिन हो गया तो १५) की दैनिक आय हो गई और ऐसे कार्य्यों में धन ख़र्च करने वाले बेवकूफ़ों की किसी जगह भी कमी नहीं है। खास कर यह देश तो आजकल ऐसों की खान ही बन रहा है। फिर इसी पेशे को करके जीविका क्यों न उपलब्ध करनी चाहिये, यह प्रश्न है, जो अनेक अंग- रेज़ी पढ़े लिखे बाबू लोगों के सामने आता है और उनमें से कई

यह स्वीकार कर लेते हैं। अधिकतर उन्हीं के कारण यह बुलाने की चरचा इधर उधर फैली हुई है। कुछ दिनों के बाद जब इस पेशे की चढ़ी हुई कमान उतर जायगी और लोगों के लिये ये संघ रुचिकर न रहेंगे, तब इस पेशे का करना भी लोग स्वयमेव छोड़ देंगे।

ऋषिकुमार—प्रसिद्ध तो यह है कि किसी को सन्देश देने के लिये परलोक से उसकी स्त्री आया करती है, किसी को सन्देश देने के लिये सरफीरोज़शाह महता आते हैं, कोई स्वामी रामतीर्थ की रूह को बुलाता है, तो क्या ये बातें सब की सब मिथ्या हैं ?

आत्मवेत्ता—यह अच्छी तरह से समझाया जा चुका है कि ये जो सन्देश रूहों के नामों से आया करते हैं, असल में ये अमल करने वालों के ही विचार और ज्ञान का परिणाम होते हैं—उदाहरण के लिये देखो, एक दक्षिणी जो

"परलोक के सन्देश अपने ही विचारों का फल है"

पौराणिक मत रखता है, उसके पास जो सन्देश आते हैं, उनमें जिक्र होता है कि रविवार ब्राह्मण को अन्न दान करे*, मृत्यु के समय उसके पास कृष्ण वर्ण के यमदूत आये और यमपुरी को ले गये, मार्ग में सब देवताओं की मूर्तियां दीखती थीं, एक नदी (वैतरणी) को पार करना पड़ता है†—परलोक में अन्न वस्त्र की जरूरत हुआ करती है (इस लिये मरे हुओं को अन्न

* सुभद्रा बी० डी० ऋषि कृत पृष्ठ २२।

† बी० डी० ऋषि कृत सुभद्रा पृष्ठ ५१—५३।

वस्त्र देना चाहिये*), परलोक में आरती पूजा होती, जप करना पड़ता है, दो घण्टे पुराणों की कथा होती है, प्रातःकाल दूध पीता हूँ, वाहन पर बैठ कर दो कोस घूमने जाता हूँ, मन्दिर में जाता हूँ, तीनों काल की आरती करके तब घर लौटता हूँ। त्रिकाल स्नान करता हूँ, एक पांव पर खड़ा रह कर तप करता हूँ, भोजन करके एक घण्टा सोता हूँ, † मदिरा-व्यसनी किसी स्थूल शरीर में प्रवेश कर तृप्त होते (अर्थात् मदिरा पीते) हैं, हर एक व्यसनी (इसमें व्यभिचारादि सभी व्यसन सम्मिलित हैं) किसी स्थूल शरीर में प्रवेश कर अपनी इच्छा तृप्त कर लेता है, वृद्ध प्राणी की मृत्यु के उपरान्त "हरि हरि" करते हैं, श्राद्ध तर्पणादि क्रिया से हम (परलोकवासी) तृप्त होते हैं, ब्राह्मण व्यतिरिक्त अन्य जाति के लोग उपरोक्त विधि नहीं करते, किन्तु ब्राह्मण को 'सीधा' सामान दान करते हैं, कोई द्रव्य भी दान करते हैं, मनुष्य पुनः वृक्ष वा पशु योनि में भी जन्म पाता है, कैलाश (परलोक का) केवल शिव भक्त ही जाने जाते हैं, श्राद्धादि कर्मों के न करने से हम भूखे तो नहीं रहते, किन्तु श्राद्ध दिवस हमारे लिये महत्व का दिवस है, (परलोक में) कुमारियों के विवाह होते हैं, विधवाओं के नहीं, चित्रगुप्त उस (यमराज) का विश्वस्त शिष्य है, चित्रगुप्त डेढ़ दो करोड़ सेवकों का अधिकारी है, यमराज के पास एक लाख दूत हैं, चित्रगुप्त के सेवक आधी सृष्टि के लोगों के पाप पुण्य लिखते हैं और आधी सृष्टि के वे (चित्रगुप्त) अकेले ही लिखा करते।

* बी० डी० ऋषि कृति सुभद्रा पृष्ठ ५७—६१।

† „ „ ५८।

हैं, परन्तु अपने सेवकों के लेखे की जांच भी चित्रगुप्त को करनी पड़ती है, तब यह लेखा न्याय के लिये यमदूत के पास जाता है और वे न्याय करते हैं, पाप क्षयार्थ "राम नाम" जपते हैं, विष्णु मन्दिर में दो सुन्दर मूर्तियां हैं, यहां (परलोक में) बद्रीनारायण का एक मन्दिर है‡।

इन सन्देशों पर ध्यान पूर्वक दृष्टि डालो, एक पुराणोक्त मतानुयायी जिन बातों को यहां मानता है, वही उसके लघु मस्तिष्क (चित्त) में स्मृति के रूप में रहती हैं और उसी स्मृति भंडार से स्वयं प्रस्ताव (Auto Suggestion) के प्रभावानुसार प्रकरण उपस्थित होने पर रूहों के सन्देश के रूप में निकल आया करती हैं।

तर्कप्रिय—इन सन्देशों के अनुसार यदि सचमुच कोई परलोक है, तो यह निश्चित है कि वह केवल पुराणोक्त मतानुयायियों के लिये ही है, भला एक आर्य्य, मुसलमान या ईसाई क्यों शिव या विष्णु के मन्दिर में जाने लगे, क्यों वह पुराणों की कथा सुनने लगे, क्या मुसलमान या ईसाई जब परलोक में मरते हैं, तो वे भी "हरि हरि" ही कहा करते हैं?

नोट—इस पर सब हँस पड़े।

मेधावी—परलोक में भी ब्राह्मण और अब्राह्मण का भेद है—वहां विधवाओं के विवाह नहीं होते—क्या ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की रूह ने अपना विधवा विवाह का क़ानून वहां यमराज की कौन्सिल से पास नहीं कराया?

‡ बी० डी० ऋषि कृत सुभद्रा पृष्ठ ६८—७७।

नोट—फिर सब लोग हंस पड़े—

जोशी—चित्रगुप्त के डेढ़ दो करोड़ सेवक क्या कभी हड़ताल भी करते हैं ?

नोट—फिर सब लोग हंस पड़े।

प्रजाप्रिय—जब यमराज के पास केवल एक लाख दूत हैं और चन्द्रगुप्त के पास डेढ़ दो करोड़ सेवक, तो समझ में नहीं आता, कि चन्द्रगुप्त चुपचाप क्यों बैठा है—क्यों वह रूस के जार की तरह, यमराज को क़ैद करके साइबेरिया नहीं भेज देता और क्यों प्रजातन्त्री राज्य की स्थापना करके परलोक को उसके शासन से स्वतन्त्र नहीं कर लेता ?

नोट—फिर सब हंस पड़े।

सोमदेव—"श्राद्धादि कर्मों के न करने से हम भूखे तो नहीं मरते" यह कह कह उस रूह ने, ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य्य समाजियों की कुछ रिआयत कर दी है।

नोट—इस पर भी सब हंस पड़े।

विज्ञानप्रिय—सीज़र† लोम्बासों ने बतलाया है—इस परलोक में रहने वाली रूहों के शरीर ईथर के होते हैं और १२०० मील एक घण्टे में चल सकती हैं—तो फिर दो कोस चलने के लिये ये रूहें किस लिये वाहन पर सवार होती हैं ? और क्या इनके वाहनों के भी शरीर ईथर ही के होते हैं ?

"रूहों के शरीर"

† Biology of the spirits by Cesare Lombeysro p. 329

आत्मवेत्ता—सर आलिवरलाज ने जो रूहों के बुलाने आदि में विश्वास रखने वाले वैज्ञानिक समझे जाते हैं, ईथर के शरीर होने की सम्भावना से इनकार किया है, उन्होंने यह भी लिखा है कि यदि ईथर के शरीरों की कल्पना भी करली जावे तो उन्हें कोई देख नहीं सकता—इसीलिये इस तथा परलोक सम्बन्धी अन्य सभी वातों को उन्होंने "असमर्थनीय वातें (Unvetifyable) कहा है†—जिस प्रकार की वात रूहों के शरीर के सम्बन्ध में 'लोमवासों ने कही है—एडवर्ड कारपेन्टर ने कुछ उससे भी बढ़कर वात कह डाली है—वह कहता है कि मानुषी जीव का तोल एक औंस का कोई भाग है, परन्तु उसका रूप उसकी आकृति, उसकी लम्बाई और चौड़ाई मनुष्य शरीर के सदृश है और जब वह पूर्णता को प्राप्त कर लेगा, तो उसकी ऊंचाई ३५ से ३८ मील तक† होगी‡—पर वात यह है कि इन सबको तुक बन्दी से अधिक कुछ नहीं कह सकते।

हंसमुख—परलोक में तीन वार (प्रातःकाल ५ बजे, दोपहर १२ बजे और रात्रि में भी १२ बजे) स्नान करने की क्यों ज़रूरत होती है ?—इससे तो प्रतीत होता है कि परलोक हिन्दुस्तान का जैकेबावाद* ही है ?

---

† Raymond by Sir Oliver Lodge Ch. on spiritualism

† "योजन चार मूंछ रही ठाढ़ी"। तुलसीदासजी ने कुम्भकरण के सम्बन्ध में लिखा है, फिर इसमें सन्देह करने को कौनसी वात रह जाती है।

‡ Drama of life and Death by Edward Carpenter P. 172.

*हिन्दुस्तान में सबसे अधिक गर्मी जैकोबावाद ही में पड़ती है—

नोट—इस पर सब हँस पड़े—

एक आलोचक—जब परलोक में शराब भी दी जाती है और व्यभिचार आदि सभी व्यसनों की पूर्ति करने का भी लाइसेन्स मिला हुआ है, तो इस परलोक से तो हिन्दुस्तान के चकले ही अच्छे हैं ?

नोट—इस पर भी सब ज़ोर से हँस पड़े और देर तक हँसते रहे।

पांचवां परिच्छेद

रूहों का बुलाना
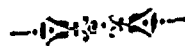
जिज्ञासु—यदि रूहों के आने आदि की सब बातें निराधार हैं, तो फिर ग्रहणज्ञ (Percepient) अपने को कभी किसी की रूह और कभी किसी की रूह क्यों बतलाया करता है ?

"अगर रूहों का आना ठीक नहीं, तो फिर "अमुक की रूह" ऐसा क्यों बतलाया जाता है"

आत्मवेत्ता—इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है ! किसी को भी मेस्मरइज़्म या हिपनाटिइज़्म से मूर्छित करके कहलाया जा सकता है कि वह निपोलियन है, नेलसन है, दयानन्द है, रामतीर्थ है। यही नहीं, उससे यह भी कहलाया जा सकता है कि वह कुत्ता है, बिल्ली है, गदहा है इत्यादि।

देवदत्त—यह बात कहां तक ठीक है कि इस्तैमाल की वस्तुओं पर प्रयोक्ता के आचार व्यवहार के संस्कार अंकित हो जाते हैं और विशेषज्ञ उन वस्तुओं को देख कर उन आचार और व्यवहारों की तफ़सील बतला सकता है ?

"वस्तु पर संस्कार Psychomatory"

आत्मवेत्ता—इस समय तक इस विषय में जितनी बातें कही गई हैं, उनसे तो यह प्रकट होता है कि कुछेक मोटी बातों को छोड़ कर बाक़ी बातें इस कल्पित वस्तु संस्कार के अध्ययन से नहीं बतलाई जा सकतीं। जो मोटी मोटी बातें इस वस्तु-संस्कार से बतलाई जा सकती हैं, उनका विवरण इस प्रकार है:—

वस्तुओं के इस्तैमाल में आने से उनमें इस्तैमाली होने के चिह्न घिसावट आदि आ जाती हैं, इन घिसावटों में भेद होता है, किन्हीं के इस्तैमाल करने से वस्तु का विशेष भाग अधिक घिसता है, परन्तु अन्यों के इस्तैमाल करने से वह नहीं, किन्तु और भाग अधिक घिस जाता है। बरतने वाले पुरुषों के स्वभाव और इन घिसावट के भेदों को लक्ष्य में रखने से एक परिणाम निकल आया करता है कि अमुक स्वभाव वाले पुरुषों के इस्तैमाल करने से वस्तु का अमुक भाग घिसता है—बस वस्तु के उस भाग की घिसावट से बरताव करने वाले पुरुष का स्वभाव बतलाया जा सकता है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है—उदाहरण में जूते को लीजिये—जूते की तली को देखने से प्रकट होगा कि किन्हीं के जूतों की एड़ी

"एक उदाहरण"

अधिक घिसती है, किन्हीं के जूतों का अगला भाग और किन्हीं जूते सभी जगह से समता के साथ घिसते हैं। अब उन पुरुषों के स्वभाव की जांच करो कि जिनके जूतों की एड़ी अधिक घिसा करती है। एक दरजन से अधिक पुरुषों की जांच करने से पता चला कि जिनके जूतों की एड़ी अधिक घिसा करती है; वे प्रायः सभी बहुत साहसी और जोशीले आदमी हुआ करते हैं। अब इस जांच से एक नियम बन गया कि जिनके जूतों की एड़ी अधिक घिसती हैं, वे उत्साही और जोश वाले मनुष्य हुआ करते हैं। अब इस नियम को ध्यान में रखने से जूते की एड़ी देख कर उसके प्रयोग कर्ता का स्वभाव बतलाया जा सकता है। इसी प्रकार से अनेक वस्तुओं की जांच करने से अनेक नियम बनाए जा सकते हैं—इस साधारण सी बात को भी कुछेक पुरुषों ने "आत्म विद्या' का एक अंग बना रक्खा है, परन्तु इसका रूहों के बुलाने आदि से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह एक बिलकुल अलग विषय है और इसका ज्ञान उपर्युक्त भांति प्राप्त किया जा सकता है परन्तु जो लोग इस प्रकार जांच न करके स्वयमाभिमान से किसी वस्तु के देखने मात्र से प्रयोग कर्ता के स्वभाव आदि बतलाने का साहस किया करते हैं उनकी बातों के विषय में स्वयं रूह बुलाने का व्यवसाय करने वालों को स्वीकार है कि सब सच नहीं होती हैं* वस्तु संस्कार की बात यहां समाप्त हुई। अब फिर असली प्रकरण पर पहुँच जावें—यह कहा जा रहा था कि मनुष्य अपने विचारानुसार

* बी० डी० ऋषि कृत सुभद्रा पृष्ठ १०।

ही परलोक के सम्बन्ध में कल्पनायें किया करता है—उदाहरण में दिखलाया गया कि किस प्रकार एक पुराणानुयायी दक्षिणी पुरुष पर, परलोक के सम्बन्ध में वे ही सन्देश आते हैं, जो उसके लघु मस्तिष्क (चित्त) में स्मृति रूप में भरे हुये होते हैं—यदि मेडियम एक ईसाई होगा तो उसके लिये उसीके विचारानुसार सन्देश आवेंगे यदि एक मुसलमान होगा तो उसको परलोकी हूरोगि़लमा, अंगूरी शराब आदि से ही भरा दिखाई देगा, जिससे यह बात भली भांति प्रमाणित हो जाती है कि ये रूहों के नाम वाले सन्देश असल में अपने ही लघु मस्तिष्क के सन्देश हुआ करते हैं।

तत्त्ववित्—कल्पना करो कि रूहें नहीं आतीं न परलोक के नाम से रूहों की कोई "कालोनी" ही आबाद है और न वहां से कोई सन्देश ही आते हैं। फिर भी मनोरंजनार्थ ही यदि ये रूहों के बुलाने आदि के संघ हुआ करें, जैसे अनेक इन्द्रजाली अपने तमाशे दिखलाया करते हैं, जिनमें हाथ की सफ़ाई के सिवा कुछ नहीं हुआ करता, तो भी क्या हानि है?

आत्मवेत्ता— तो भी हानि है और वह इस प्रकार कि रूहों के अप्रकट रीति से आने जाने भूत प्रेत बन कर उनके स्वप्नादि में सन्देश देने और अन्य इसी प्रकार की कल्पनाओं का फल यह होता है कि साधारण नर नारी के हृदय

"तमाशे के तौर पर भी रूहोंके बुलाने आदि के संघ हानिकारक हैं"

में उनका भय उत्पन्न हो जाता है और वह भय भी इस प्रकार का कि उसे किसी प्रकट साधन या साधनों से दूर नहीं कर सकते। और हृदय में इस प्रकार का भय बना रहने से हृदय निर्बल हो जाता है और हृदय की निर्बलता मनुष्य की अकाल और शीघ्र मृत्यु का कारण बन जाती है। मनुष्य को निर्भीक होना चाहिये, इसी लिये वेद* में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि अन्तरिक्ष, द्यौ (प्रकाशक लोक, सूर्य्यादि) पृथ्वी (अप्रकाशक लोक, जंगल आदि), आगे पीछे, नीचे, ऊपर, मित्र, शत्रु, ज्ञात, अज्ञात, दिन, रात सभी के भय से मुक्त कर देवे। भूत प्रेत से डरने वाले या उनकी सत्ता मानने वाले सदैव कायर और डरपोक हु. ा करते हैं और भीरुता और कायरता के समावेश से मनुष्य मनुष्यत्व के सब से श्रेष्ठ अधिकार निर्भीकता को खो बैठता है और इस प्रकार अपने को पतित कर लेता है। अतः ये मिथ्या विश्वास किसी रूप में भी क्यों न रक्खे जावें, मनुष्य के लिये हानिकारक हैं, और इसी लिये त्याज्य हैं। इसी उपदेश के साथ संघ का कार्य्य समाप्त हुआ और आत्मवेत्ता ऋषि ने साथ ही घोषणा भी करदी कि अगले संघ के साथ इस सत्र का कार्य्य समाप्त हो जावेगा।

——:o:——

* अथर्ववेद का० १६ सूक्त १७ मन्त्र ५, ६

चौथा अध्याय

पहला परिच्छेद

"ग्यारहवां संघ"

अन्तिम कर्त्तव्य

प्रारम्भ- आज के संघ को अन्तिम संघ समझते हुये निकटवर्त्ती नगरों और ग्रामों के अधिकांश नर नारी इच्छुक हैं कि संघ में चलें और आत्मवेत्ता ऋषि से अन्तिम कर्तव्य का उपदेश सुनें। रात्रि का सुहावना समय है—धीमा धीमा आह्लादप्रद वायु प्रवाहित हो रहा है। चन्द्रमा स्वच्छ नीले गगन मंडल में प्रकाशित हो अपनी उज्ज्वल आभा का विस्तार कर रहा है। रात्रि में खिलने वाले रजनि गन्धा आदि पुष्पों की अनुपम छटा है। सारी वाटिका सुगन्धि पूरित हो रही है। संघ में भाग लेने के उमंग में नर नारियों के झुंड के झुंड श्रावण को घनघोर घटाओं की तरह उमड़े चले आ रहे हैं, हृदय, नव विकसित सरोज की भाँति खिले हुये हैं व उल्लास पूर्ण उत्साह से उत्साहित हैं, जिज्ञासा और शिक्षा ग्रहण की अपूर्व उत्कंठाओं से उत्कंठित हैं, देखते देखते संघ लग गया और इतनी भीड़ है कि इससे पहले कभी नहीं हुई थी। आत्मवेत्ता ऋषि आये, अपने

नियत आसन पर बैठ गये। संघ का समय हो गया, इसलिये कार्य्यारम्भ हुआ।

आत्मवेत्ता—मृत्यु क्या है, मृत्यु के बाद क्या होता है, ये और इनसे सम्बन्धित अनेक विषयों पर इससे पहले दस संघों में प्रकाश डाला जा चुका है और विश्वास है कि उन्हें संघ के प्रेमियों ने अच्छी तरह समझ लिया है—प्रसंग वश उपर्युक्त विषयों के साथ भिन्न भिन्न स्थलों पर मनुष्यों के कर्त्तव्यों का भी विधान हो चुका है, फिर भी आज के संघ का उद्देश्य यह है कि स्पष्ट शब्दों में मनुष्य के मुख्य कर्त्तव्यों को इकट्ठा वर्णन कर दिया जावे—तदनुकूल वे वर्णन किये जाते हैं-आज शंका समाधान का कोई प्रकरण नहीं है—आज तो प्रत्येक बात जो बतलाई जावे, हृदयांकित कर लेनी चाहिये और उसके अनुकूल आचरण करने का यत्न करना चाहिये—उनके आचरण में लाने ही से मनुष्य मृत्यु के दुःख से मुक्त हो सकता है, जिन कर्त्तव्यों की आज शिक्षा मिलनी है, वे गिनती में सात हैं। अब उन्हीं में से एक को कहा जाता है।

पहली शिक्षा—सबसे प्रथम जिस शिक्षा को देना है, वह ब्रह्मचर्य्य की शिक्षा है—ब्रह्मचर्य्य का यह भाव है कि मनुष्य में आस्तिक बुद्धि के साथ वह योग्यता उत्पन्न हो, जिससे मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों पर अधिकार रख सके, मन बड़ा चंचल है—यही मन की चंचलता जब इन्द्रियों में भी आ जाती है, तब मनुष्य का पतन हो जाता है।

नोट—आत्मवेत्ता इतना ही कहने पाये थे, कि संघ के समीप ही से किसी ने एक भजन गाना शुरू किया, जिसकी ओर सबका ध्यान चला गया:—

भजन (१)

मन मतवारा इन्द्रिय दश में ।
इन्द्रिय हैं विषयों के वश में ॥
कान मुग्ध रस में शब्दों के ।
नेत्र रूप के जकड़े रस में ॥
बंधा गन्ध से है घ्राणेन्द्रिय ।
त्वचा फंसी स्पर्श सरस में ॥
भांति भांति के भक्ष्य भोज कर ।
रसना उलझ रही षट् रस में ॥
इस बन्धन से छुटकारा हो ।
प्रभु करो मम-चित्त निज वश में ॥

दूसरी ओर से फिर आवाज़ आने लगी—

मन पछतै है अवसर बीते ।
दुर्लभ देह पाई प्रभु पद भज कर्म वचन असहीते ॥
सहस बाहु दस वदन आदि नृप बचे न काल बली ते ।
हम हम करि धन धाम संवारे अन्त चले उठ रीते ॥
सुत बनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही तें ।
अन्तहु तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही ते ॥

अब नाथहिं अनुराग जागु जड़ त्यागु दुरासा जीते।
बुझै न काम अगिनि 'तुलसी' कहु विषय भोग बहु घीते॥

आत्मवेत्ता—इसलिये सबसे बड़े मनुष्य के यही दो कर्तव्य हैं—(१) ईश्वर परायणता (२) अपने ऊपर अधिकार-इन्हीं कर्तव्य द्वय का नाम ब्रह्मचर्य्य है—सुतराम् ब्रह्मचर्य्य प्रत्येक नर नारी के लिये अनिवार्य्य है—जितने भी इन्द्रियों के विषय हैं, क्षणिक सुख के देने वाले हैं और उस क्षणिक सुख के बीतने के साथ ही प्राणियों में उस विषय की आसानी जान कर, उससे वैराग्य उत्पन्न होता है—परन्तु यह वैराग्य भी विषयों के सुख की भांति ही क्षणिक होता है—उस वैराग्य के बीतने पर फिर मनुष्य उन्हीं विषयों की ओर चलने लगता है। बस, इसी चलेन्द्रियता के दोष के दूर करने का साधन ब्रह्मचर्य्य है।

सत्यकाम—विषय की निस्सारता का अभिप्राय क्या है?

आत्मवेत्ता – कोई विषय हो उसका सुख बहुत थोड़ी देर, उसके भोगने के समय मात्र में, रहता है—इधर भोग ख़त्म हुआ, उधर सुख रुख़सत—उदाहरण के लिये रसना के विषय को लीजिये। मनुष्य को किसी वस्तु विशेष का स्वाद अत्यन्त प्रिय है, वह उसी स्वाद के लिये उसे खाता है—जिह्वा पर उस वस्तु के रखते ही स्वाद आ जाता है। परन्तु वह स्वाद प्रिय प्राणी चाहता है कि उस वस्तु को खाये नहीं, किन्तु जिह्वा

पर ही रक्खा रहने दिया जाय, जिससे देर तक स्वाद आता रहे, परन्तु अब उसे ऐसा करने से स्वाद नहीं आता, उस वस्तु के जिह्वा पर रखते ही खूब स्वाद आ गया था, परन्तु मालूम नहीं, वह स्वाद कहां चला गया—वस्तु जिह्वा पर रक्खी हुई है, परन्तु स्वाद नहीं आता—अब स्वाद क्यों नहीं आता, इसलिये कि वह तो क्षणिक था—स्वाद का क्षण बीतते ही स्वाद खत्म हो गया—यही हाल संसार के प्रत्येक विषय का है, इसलिये इन विषयों को क्षणिक और निस्सार कहा जाता है—ब्रह्मचर्य्य के नियमों पर अमल करने की योग्यता उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य उठते, बैठते, सोते जागते इन सब नियमों को स्मरण करता रहे, और भरसक यत्न करे कि उन्हें काम में लावे, उनके काम में लाने के लिये दो साधन हैं:—

"ब्रह्मचर्य के दो साधन"

पहला साधन तप है—मनुष्यों को कठोरता सहने का जीवन व्यतीत करना चाहिये—कष्टों को प्रसन्नता से सहन करना चाहिये—आराम तलबी के पास भी नहीं फटकना चाहिये—दूसरा साधन स्वाध्याय है—उत्तम उत्तम ग्रन्थों के अध्ययन से मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क ब्रह्मचर्य्य के पवित्र नियमों के ग्रहण करने के योग्य बना करता है।

दूसरी शिक्षा—चित्त की एकाग्रता है—सुख असल में विषयों में नहीं, किन्तु चित्त की एकाग्रता में है—इसलिये चित्त एकाग्र होना चाहिये—चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने के लिये इस बात की आदत डालनी चाहिये कि जो काम भी करे, खूब

जी लगा कर किया करे और अपने को कभी खाली न रक्खे, कुछ न कुछ सदैव करते रहना चाहिए—चित्त की एकाग्रता के लिये ईश्वर के मुख्य नाम ओ३म् का सार्थक जप इस प्रकार करना चाहिये कि कोई श्वास जप से खाली न जाने पावे—यह जप प्रातः सायं अथवा रात्रि आदि में अपनी अपनी सुविधा के अनुसार करना चाहिये। इन साधनों से चित्त एकाग्र हो जाता है—चित्त की एकाग्रता मानो मोहन मन्त्र है, जिससे प्रत्येक कार्य्य की सिद्धि हो सकती है।

नोट—दूसरी शिक्षा का व्याख्यान समाप्त करते ही एक सत्संगी ने ऋषि की अनुमति लेकर एक भजन सुनायाः—

भजन

मोहन मन्त्र सिखादे मैया,
मोहन मन्त्र सिखादे!
आ! स्वर्गीय शान्ति की, प्यारी अनुपम प्रभा दिखादे।
मैया मोहन मन्त्र सिखादे॥
हृत्तन्त्री के तार हिलादे, जीवन शंख बजादे,
आशा का संगीत सुनादे, साहस साज सजादे।
मैया मोहन मन्त्र सिखादे॥
मस्त बनादे, देश प्रेम की बूटी हमें पिलादे,
द्वेष हटादे, मोह घटादे, मरते हुये जिलादे।
मैया मोहन मन्त्र सिखादे॥

पौरुष दीप जलादे, क्षण में बाधा विघ्न भगादे,
सोई हुई कला कौशल को, कौशलमयी! जगादे।
मैया मोहन मन्त्र सिखादे॥

आत्मवेत्ता – "ममता का त्याग" है-ममता का व्याख्यान

"तीसरी शिक्षा"

हो चुका है*—ममता दुखों की जननी है, ममता को छोड़ देने से मनुष्य दुःखों की सीमा उल्लंघन कर जाता है। मौत उसके लिये कष्ट-प्रद नहीं रहती है, ममता का साधन वैराग है। प्रवल वैराग से ममता नष्ट हो जाती है, इसलिये यत्न करके वैराग से ममता के परदे को चित्त से हटा देना चाहिये—काम ज़रूर मुशकिल है, परन्तु असम्भव नहीं, यत्न करने से सब कुछ हो जाता है:—

उदयवीर—तुलसीदासजी भी इस ममता के फ़रयादी थे:—

भजन

ममता तू न गई मेरे मन ते॥
पाकर तोहि जन्म को साथी, लाज गई लोकनतें।
तन थाक्यो, कर कांपन लागे, ज्योति गई नैननतें॥
ममता तू न गई॥
†स्रवन वचन न सुनत काहु के, बल गये सब इन्द्रियन तें।
टूटे दसन‡ वचन नहिं आवत, सोभा गई मुखन तें॥

---

* देखो पहले अध्याय का चौथा परिच्छेद।

† (१) स्रवन = श्रवण कान। (२) दान्त

ममता तू न गई ॥
कफ़, पित, वात कण्ठ पर बैठे सुतहिं बुलावन करतें।
भाई बन्धु सब परम प्यारे, नाहिं निकारत घरतें ॥
ममता तू न गई ॥
जैसे ससि मंडल बिच स्याही छूटे न कोटि जतनतें।
'तुलसीदास' बलि जाऊं चरननतें लोभ पराये धनतें ॥
ममता तू न गई मेरे मनतें ॥

"चौथी शिक्षा"

आत्मवेत्ता—चौथी बात जो आचरण में लानी चाहिये, वह आत्म-अध्ययन है। आत्म-अध्ययन का भाव यह है कि मनुष्य शान्ति के साथ समय समय पर अपने गुण और दोषों पर विचार किया करे और दोषों के छोड़ने के लिये यत्नवान् रहा करे—जब तक मनुष्य अपने ऊपर दृष्टि नहीं रखता, तब तक उसे अपने दोषों, अपनी त्रुटियों का पता नहीं चला करता, इसलिये दिन रात में एक ख़ास समय में और सबसे अच्छा रात्रि में सोने से पहले का समय इस काम के लिये हुआ करता है, उसी समय ईश्वर को अपने हृदय में विराजमान समझ कर अपने दिन भर के कामों पर विचार किया करे, जो जो उनमें त्रुटियां हुई हों, उनके लिये प्रतिज्ञा कर लिया करे कि कल से ये न होंगी और फिर पूरा पूरा यत्न किया करे, कि वे दोष उसमें न रहें, इसी का नाम आत्म-अध्ययन है।

——::o::——

दूसरा परिच्छेद

अन्तिम कर्त्तव्य ।

——::※::——

पहली चार शिक्षायें, वे कर्त्तव्य हैं, जिनका सम्बन्ध केवल उन्हीं मनुष्यों से हुआ करता है, जो उन्हें प्रयोग में लाया करते हैं, अब दो शिक्षायें वे हैं, जिनका सम्बन्ध अन्यों से है, उनमें से पहली अर्थात् पाँचवीं शिक्षा "विश्वप्रेम" है—मनुष्य का हृदय लचकीला होना चाहिये, जिससे उसमें प्राणी-मात्र की हित-कामना निहित रहा करे—ईश्वर जगत् का पिता है, मनुष्य पशु पक्षी सभी, उसके उत्पन्न किये हुये, उसके पुत्र और पुत्रियों के सदृश हैं—इसलिये जहां मनुष्यों के अन्तर्गत भ्रातृ भाव होना चाहिये, वहाँ पशु पक्षियों के लिये भी उनके हृदय में दया का भाव रहना चाहिये—इस प्रेम की, मंगल कामना से, जब मनुष्य का हृदय पूरित रहा करता है, तब उसके भीतर एक अपूर्व उत्साह और आह्लाद की आभा जाज्वल्यमान रहने लगती है—उसके प्रत्येक कार्य्य की सिद्धि का अचूक कारण बना करती है; और मनुष्य इसी प्रकाश से अनेक दोषों तथा अनाचारों से बचा करता है, जहां प्रेम से हृदय शुद्ध और उदारतापूर्ण हुआ करता है, वहां ईर्ष्या द्वेष के मलिनता और सकीर्णता का वह निवास गृह बना करता है—यही कर्त्तव्य है, जिसके प्रयोग में आने से मनुष्य परस्पर प्रेम के सूत्र से सूत्रित होकर जाति और समाज बनाया करते हैं, जो अभ्युदय (लोको-

"पांचवीं शिक्षा"

शति) का एक मात्र कारण है—परस्पर मनुष्यों में यह प्रेम की लता अधिकतर उसी समय अंकुरित हुआ करती है, जब उनके हृदय प्रभु-प्रेम से भी पूरित हुआ करते हैं—इसलिये मनुष्य प्रेम और ईश्वर प्रेम दोनों साथ साथ ही चला करते हैं—

नोट—संघ के एक सदस्य ने मग्न होकर भजन गाना शुरू किया:—

भजन—१

प्रेम बीज तू अविनाशी है, नश्वर विश्व रहे न रहे।
विश्व प्रेम में रंग ले प्यारे! फिर तनु-रक्त रहे न रहे॥
विद्युतमय विचार विभुता हो मृणमय* देह रहे न रहे।
क्षत विक्षत हृदय में समता हो, शब्द स्नेह रहे न रहे॥
नव अंकुर विकासमय उलहे ऊपर खण्ड रहे न रहे।
ज्ञान ज्योति जग में प्रकटित हो अग्नि प्रचंड रहे न रहे॥
क्रय कर सत्य त्याग दें सर्वस पीछे शक्ति रहे न रहे।
हो बलिदान कर्म वेदी पर स्वार्थ भक्ति रहे न रहे॥

भजन—२

प्रेम धन प्रभुवर प्रेमिक प्राण!
ताप तिमिर में फिरा भटकता करता अनुसन्धान।
प्रेम पन्थ प्रभु! मिला न तेरा हुआ निराश निदान॥
अहा, नाथ इतने में प्रकटा प्रेम प्रभामय भानु।
दीख पड़ा तब प्रेम पन्थ प्रभु सतत शान्त सुखदान॥
किन्तु हाय! सहसा विद्युत सम कहां लुका वह भानु।
प्रकटा दो प्रकटा दो पुनरपि उसको प्रेम निधान॥
प्रेम धन प्रभु प्रेमिक प्राण॥

---

* नाशवान्

आत्मवेत्ता—छठा कर्तव्य सेवा का उच्च भाव है—यह वह श्रेष्ठ कर्त्तव्य है, जिससे मनुष्य सहृदय और लोकप्रिय बना करता है—उसके आत्मा में विशालता आती है। इसी उच्च कर्तव्य के प्रयोग में लाने से मनुष्य पतितों का पावन बनता, गिरे हुओं को उठाता और अनेक दोषों से युक्त प्राणियों को दोषमुक्त करता है। एक उदाहरण दिया जाता है और यह उदाहरण वैष्णव सम्प्रदाय के एक आचार्य "चैतन्य" के जीवन से सम्बन्धित है।

"छठी शिक्षा"

एक बार महात्मा चैतन्य बंगाल के एक नगर में आये और एक वाटिका में ठहरे, उनके साथ उनके कतिपय शिष्य भी थे। नगर के लोगों ने बात में प्रकट किया कि उस नगर में एक व्यक्ति मद्यपायी बड़ा दुष्ट है, उससे बहुधा नगर निवासी दुःखी रहा करते हैं—चैतन्य ने यह सुन कर अपने एक शिष्य को भेजा कि मद्यपायी को बुला लावें—मद्यपायी उस समय अपने एक दो मित्रों के साथ शराब पी रहा था—उसी समय चैतन्य के शिष्य ने उसे गुरु का सन्देश सुनाया और साथ चलने की प्रार्थना की—मद्यपायी ने बोतल सन्देशहर को मारी, जिससे उसका शिर जखमी होगया और खून निकलने लगा—उसी हालत में शिष्य ने लौट कर घटित घटना गुरु को सुनादी—चैतन्य ने तब अपने १०-१२ शिष्यों को भेजा कि यदि वह प्रसन्नता से न आवे, तो उसे पकड़ लावें, मद्यपायी अब उनके साथ चैतन्य के पास जारहा है—

"एक उदाहरण"

वह सोचता जा रहा था कि उससे अपराध हुआ है और उसे कठोर दण्ड भोगना पड़ेगा, इसी चिन्ता से चिन्तित और दुःखी मधायी चैतन्य की सेवा में उपस्थित किया जाता है—चैतन्य ने उसे आराम के साथ एक गुदगुदे बिस्तरे पर लिटवा दिया, परन्तु इससे उसका भय और बैचेनी दूर नहीं हुई। इसी बीच में चैतन्य उसके पांवों के पास जाकर बैठते हैं और उसके पांव दाबना चाहते हैं—पांव के छूते ही मधायी घबरा कर उठ बैठता है और बड़ी नम्रता से उसने अपने पातकों और अवगुणों की गिनती कराते हुये, कहा कि, महाराज! आपने मेरे अपवित्र शरीर को हाथ लगा कर क्यों उन्हें अपवित्र किया, उसकी आंखों से अश्रुधारा बही चली जा रही है और वह अपने दोषों की गणना चैतन्य को कराता चला जा रहा है। फल यह होता है कि मधायी की काया पलट जाती है और वह चैतन्य का शिष्य बनता है और उनके शिष्यों में सब से ऊंचा स्थान पाता है। इस आख्यायिका से स्पष्ट है कि किस प्रकार चैतन्य ने सेवा के द्वारा एक गिरे हुए पुरुष को उठा कर उसे अच्छे से अच्छा आदमी बना दिया।

“सातवीं शिक्षा”

आत्मवेत्ता—सातवां और अन्तिम कर्तव्य विशेष कर चतुर्थाश्रमस्थ मनुष्यों का यह है कि वे अपने को ईश्वर-भक्ति और ईश्वर-प्रेम से इस प्रकार रंगलें कि उसके सिवा संसार की प्रत्येक वस्तु उन्हें गौण प्रतीत होने लगे इसके लिये उन्हें निरन्तर उठते बैठते सोते जागते ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिये। यदि वे सोने से पहले जी लगा कर ईश्वर का स्मरण करते हुये सो

जावेंगे, तो निश्चित है कि उन्हें यदि स्वप्न भी दिखलाई देगा, तो उसमें वे अपने को ईश्वर का साक्षात्कार करते हुये ही देखेंगे—प्रत्येक प्रकार के झगड़ों, झंझटों और अशान्ति प्रद कार्य्यों से चित्त हटा कर इस ही एक काम में लग जाने से इष्ट की सिद्धि होती है और इष्ट सिद्धि के बाद व्यास के शब्दों में मनुष्य को अनुभव होने लगता है।

प्राप्तं प्राप्तव्यम्

आत्मवेत्ता ऋषि ने ज्योंही अपना उपदेश समाप्त किया, प्रत्येक सत्संगी अपने को कृतकृत्य समझ रहा था और समझने लगा था कि उसका कर्त्तव्य क्या है और ऋषि के प्रति कृतज्ञता के भावों से प्रत्येक का हृदय भरपूर हो रहा था--संघ की समाप्ति की घोषणा होने से पूर्व अनेक सत्संगियों ने प्रकट रूप से उस कृतज्ञता का प्रकाश किया और चाहा कि किसी अन्तिम कर्त्तव्य के सम्बन्ध में कुछेक भजन गायन किये जावें—ऋषि की अनुमति से उनका प्रारम्भ हुआ।

ग़ज़ल (१)

जलवा कोई देखे अगर इकवार तुम्हारा।
हो जाय हमेशा को खरीदार तुम्हारा॥
क्यों उसका कोई तार हो बेतार जो कोई।
चिन्तन किया करता है लगातार तुम्हारा॥
लवलीन हुआ तुम में मिटा कर जो दुई को।
तुम यार उसी के हो वही यार तुम्हारा॥

किस तरह ज़मीं चलती है सूरज के सहारे।
देखे कोई आलम में चमत्कार तुम्हारा॥
फूलों की तरह खिलते हैं दानों में सितारे।
आकाश बना गुलशने बेखार* तुम्हारा॥
बुद्धि की पहुँच से भी परे हद्द तुम्हारी।
हाँ तर्क की सीमा से परे पार तुम्हारा॥
अज्ञेय हो तुम है यही आख़िर को "अथीइज़्म"†।
इनकार भी आख़िर को है इकरार तुम्हारा॥

ग़ज़ल (२)

रहता है तापो तेज तपोबल के हाथ में।
जिस तरह चांदनी महे अकमल‡ के हाथ में॥
मिलना न मिलना उनका तो है कल के हाथ में।
पर दुःख है वह कल नहीं बेकल के हाथ में॥
किसके तलाश की यह लगन है लगी हुई।
बिजली की लालटेन है बादल के हाथ में॥
घेरा है लोभ मोह ने इस तरह जीव को :
जैसे कोई शरीफ़ हो अरज़ल× के हाथ में॥
निर्लेप आत्म तमोगुण से हुआ मलीन।
हीरा सियाह हो गया काजल के हाथ में॥
अभ्यास करना पड़ता है अष्टांग योग का।
आता है मोक्ष मार्ग बहुत चलके हाथ में॥

* निष्कण्टक, † नास्तिकवाद, ‡ पूर्णिमा का चन्द्रमा, × कमीना।

भजन (३)

अन्त समय में हे जगदीश्वर ! तेरा ही सुमरण तेरा ही ध्यान हो ॥
क़ाबू में होवें इन्द्रिय अपने, वश में प्राण और अपाण हो ॥ अन्त०
ख़ाली हो चित्त वासनाओं से,
अपने दुःख का न उसमें नामा निशान हो ॥ अन्त समय में०
श्रद्धा से भरपूर मन होवे अपना,
भक्ति की हृदय में उत्कृष्ट स्थान हो ॥ अन्त समय में०
सतही पै निर्भर हों काम अपने,
सतही का अभ्यास सत ही की आन हो ॥ अन्त समय में०
जीते हों सत पर मरते हों सत पर,
सत ही का गौरव सत ही का मान हो ॥ अन्त समय में०
भूलें न यम को पालें नियम को,
जीवन में अपने तब ही प्रधान हो ॥ अन्त समय में०
लवलीन हों प्रेम में तेरे ऐसे, सुख की न सुध हो दुख का न भान हो ।
अन्त समय में हे जगदीश्वर ! तेरा ही सुमरण तेरा ही ध्यान हो ॥

आत्मवेत्ता—(प्रसन्न चित्त के साथ) अब सब न कार्य्य समाप्त हुआ—ईश्वर करें—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे पश्यन्तु भद्राणि, मा कश्चित् दुःखभाग भवेत् ॥

अर्थात् सभी सुखी और स्वस्थ हों, सभी मंगल कामनाओं की पूर्ति देखें, और कोई भी दुखी न हो ।

—: एवमस्तु :—